नया सफ़क

नया सप्तक

सम्पादक

डॉ० राकेश गुप्त

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग

गवर्नमेण्ट कालेज, नैनीताल

तथा

श्री ऋषिकुमार चतुर्वेदी

हिन्दी विभाग, गवर्नमेण्ट कालेज, नैनीताल

लोकभारती प्रकाशन

१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-१

लोकभारती प्रकाशन
१५–ए, महात्मा गांधी मार्ग,
इलाहाबाद–१ द्वारा प्रकाशित

●

संस्करण : १९७९ | मूल्य : ७·५०

●

सुपरफ़ाइन प्रिंटर्स,
इलाहाबाद–३ द्वारा मुद्रित

अनुक्रम

•

प्राक्कथन

स्नातकोत्तर कक्षाओं के पाठ्यक्रम में नयी कविता को समुचित स्थान दिलाने के उद्देश्य से प्रस्तुत संग्रह तैयार किया गया है। कवियों और कविताओं को चुनने में तीन बातों का ध्यान रखा गया है : (१) उन्हीं कवियों को चुना गया है, जिन्हें नयी कविता के कवि के रूप में पूर्ण मान्यता प्राप्त हो चुकी है, (२) तथा जिनकी रचनाओं में नयी कविता की प्रमुख विशिष्टताएँ अच्छी तरह उभरकर आई हैं, केवल वे ही रचनाएँ संकलित की गई हैं, जो अर्थ की दृष्टि से सर्वथा स्पष्ट हैं।

संपादकों का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि इन कसौटियों पर अन्य कृतियाँ तथा कृतिकार खरे नहीं उतरते। पर इस संकलन का विस्तार सीमित रखने के लिए कुछ को लेना और अनेक को छोड़ना अनिवार्य था।

हमें विश्वास है कि आगामी वर्षों में नयी कविता के अध्ययन-अध्यापन का मार्ग प्रशस्त होगा, तथा अनेक विद्वान् अध्यापक एवं आलोचक इसकी उपलब्धियों का समुचित आकलन करने की दिशा में प्रवृत्त होंगे।

—सम्पादक

नयी कविता

जिस मृगनयनी ने केशव को बाबा कहकर सम्बोधित किया था, अवश्य ही वह कविता रही होगी और वह कविता केशव को ही नहीं, अपने पनघट पर आने वाले हर कवि को, जिसके बाल सफेद हो गए होते हैं, जैसे बाबा कहकर मुँह चिढ़ाती है और एक नूतन भंगिमा के साथ नये आने वाले कवियों की ओर मुड़ जाती है। कविता चिर-नवीना और अक्षत-यौवना है। लगभग प्रत्येक साहित्य-शास्त्री और काव्याचार्य ने नवीनता को उसका अनिवार्य गुण माना है।

फिर, एक विशेष देश-काल से सम्बद्ध और विशिष्ट गुणों से युक्त किसी काव्यधारा को ही 'नयी' कहने का क्या प्रयोजन है, यह प्रश्न बहुत दिनों से उठता रहा है और इसके समाधान भी भिन्न-भिन्न होते रहे हैं। नयी कविता के मेधावी व्याख्याता डॉ० जगदीश गुप्त इसका समाधान इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं :—"किसी काव्यकृति का कविता होने के साथ ही 'नयी' होना अभीष्ट है। वह 'नयी' हो और कविता न हो, यह स्थिति साहित्य में कभी स्वीकार्य नहीं हो सकती। फिर नयी कविता का विरोध आज नयेपन के कारण उतना नहीं हो रहा है, जितना इस कारण कि जो वाह्यतः और साधारणतः कविता नहीं लगती, उसे उसके अन्तर्गत कविता कहा जाता है।" स्पष्ट है कि कविता के पहले 'नयी' विशेषण उसके नियामकों को इसलिए लगाना पड़ा कि वह कविता के परम्परागत रूप-विधान से इतनी अधिक भिन्न थी कि ऊपर से देखने पर कविता लगती ही नहीं; जैसे किसी नारी ने पुरुष की वेषभूषा धारण कर ली हो। कविता के लिए छन्दोबद्ध और पद्यात्मक होना अनिवार्य भले ही न हो, परम्परा-सिद्ध अवश्य रहा है, किन्तु अधिकांश नयी कविता विशुद्ध रूप से गद्यात्मक दिखाई देने लगी। और जब गद्यात्मकता आई तो गद्य की अन्य विशेषताएँ

भी उसमें आती गईं ! जैसे 'गद्य' में अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग तो भारतेन्दु युग से ही चला आ रहा था, किन्तु पद्य की भाषा संस्कृत-निष्ठ बनाए रखने का ही प्रयास होता रहा था। नये कवि ने अंग्रेजी शब्दों का खुलकर प्रयोग आरम्भ कर दिया। यद्यपि वीभत्स और रौद्रादि की स्वीकृति भी साहित्य-क्षेत्र में बहुत दिनों से चली आ रही थी; किन्तु कवि-गण उनका प्रयोग कभी-कभी स्वाद बदलने के लिए या फिर मात्र परम्परा-निर्वाह के लिए ही किया करते थे। कविता की प्रकृति माधुर्य-गुण सिञ्चित ही थी। किन्तु कवि की प्रतिभा जैसे अग्निदेव की तरह घृताहुतियों से अपच का अनुभव करती हुई, खाण्डव-दाह में पशुओं की जलती हुई मज्जा का आस्वादन करने को विवश हो उठी। 'नीरस तरु-रिह विलसति पुरतः' जो काव्य का आदर्श समझा जाता था, उसे उसने रुग्ण मनोवृत्ति की उपज करार दे दिया और 'शुष्कं काष्ठं तिष्ठत्यग्रे' की कठोरता को अपनाया। इस प्रकार कविता एकबारगी ही बदली हुई लगने लगी, और उसके इस बदले हुए रूप की सूचना देने के लिए ही उसके पहले 'नयी' विशेषण लगाया जाने लगा।

कविता की प्रकृति और रूपाकृति में जो यह परिवर्तन हुआ, और जिसके कारण यह आवश्यकता महसूस की गई कि उसे अब तक हुई समस्त कविता से कुछ अलग करके देखा जाय, यदि हम गहराइयों से देखें तो पायेंगे कि इसके मूल में जीवन की जटिलता है। यह जटिलता बाह्य और आन्तरिक दोनों प्रकार की है। संसार की जनसंख्या बढ़ने के कारण, विज्ञान की उन्नति से समस्त विश्व के परस्पर निकट आ जाने के कारण संघर्ष बढ़े हैं। कुछ थोड़े पूंजीवादी वर्ग को छोड़कर आर्थिक संकोच के शिकार लगभग सभी हुए हैं। और भी अनेक प्रकार के अभावों का अनुभव मध्यम और निम्नवर्ग के लोगों को होता रहा है। इन अभावों और संघर्षों ने हमारे मस्तिष्क की जटिलता भी बढ़ा दी है। साथ ही हमारे सोचने की पद्धति भी धीरे-धीरे बदली है। अभी तभी तक हमारे और हमारे सोचने के बीच बहुधा कोई आध्यात्मिक दीवार खड़ी हो जाती थी,

ग्रौर तब हम किसी न किसी प्रकार सन्तोष कर लेते हैं कि ईश्वर है, वह कभी न कभी न्याय देगा ही, ग्रौर हमें तो उसी के पास पहुँचना है, वहाँ पहुँचकर फिर सुख ही सुख है, यह दुनिया तो रैनबसेरा है। सुख मिला तो क्या, दुख मिला तो क्या। इसलिये दुःख हमें बहुत देर तक ग्राक्रान्त नहीं करते थे। ग्रब हमारे विकास-क्रम में बुद्धि पहले की ग्रपेक्षा ग्रधिक प्रधान हो चुकी थी, जीव-विज्ञान की शब्दावली में कहें तो हमारा प्रमस्तिष्कीय कोर्टेक्स ग्रधिक जटिल हो गया था, उसमें बहुत से नये नाड़ी पथों का निर्माण हो गया था, थेलेमस ग्रौर हाइपोथेलेमस पर उसका नियंत्रण ग्रधिक बढ़ गया था। हमने ग्रपने चिंतन के दर्पण के सामने बिना किसी व्यवधान के खड़ा होना सीख लिया था, ग्रब हमने ग्रपनी परिस्थितियों से समायोजन स्थापित करने के लिए सभी तरह की बैसाखियाँ छोड़ दी थीं, ग्रौर ग्रपने पैरों पर खड़े होने का साहस बटोर लिया था।

नयी कविता यहीं से शुरू होती है, मानव जहाँ ग्रपने चिंतन के दर्पण के रूबरू खड़ा है, बिना किसी व्यवधान के, मानव जहाँ ग्रपने पैरों पर खड़ा है बिना किन्हीं बैसाखियों के। किन्तु इस स्थिति की प्राप्ति कोई ग्रचानक ही नहीं हो गई, जाने कितने युगों के प्रयासों का यह फल है। इसीलिए नयी कविता को भी हम परम्परा से कटी हुई नहीं मान सकते; वह तो एक क्रमिक विकास का ही प्रतिफलन है। ग्रपनी पूर्ववर्ती कविता से उसकी भिन्नता भी उसे परम्परा से कटा हुग्रा सिद्ध नहीं कर सकती। नयी कविता के विवेकशील ग्रौर सुलझे हुए नियामक परम्परा से कटने का दंभ भी नहीं करते। डॉ० जगदीश गुप्त ग्रौर 'ग्रज्ञेय' के मत इसमें प्रमाण हैं। ऐसे लोगों की भी कमी नहीं, जो नयी कविता का महत्व परम्परा से काट कर ही ग्राँकना चाहते हैं। किन्तु वे प्रतिक्रियावादी ही ग्रधिक हैं, ग्रतः हम परम्परा से जोड़ते हुए ही नयी कविता का विवेचन करना ग्रधिक उपयुक्त समझते हैं।

सबसे पहले हम इस काव्य-धारा के गद्य-कल्प रूप को लें, क्योंकि इसी के कारण इसे पूर्ववर्ती काव्यधारा से काटकर देखने का प्रयास किया

जाता है। कविता केवल पद्य में ही हो सकती है, गद्य में नहीं, ऐसा कोई शास्त्रीय विधान कम से कम हमारे देखने में तो नहीं आया। वास्तव में गद्य और पद्य तो काव्य की शैलियाँ हैं। बाण की कादंबरी गद्य में होते हुए भी काव्यगुणों से युक्त है; संस्कृत काव्य परम्परा में तो गद्यकार और पद्यकार सभी कवि माने जाते थे। किन्तु फिर भी पद्यात्मक काव्य की रचना अधिक होती आई, इतना तो मानना ही पड़ेगा। हिन्दी के प्राचीन काव्य में तो गद्य का सर्वथा अभाव ही दीखता है। इसके कई कारण हैं। पद्य जल्दी याद हो जाता है, उसमें श्रोता का अवधान खींच लेने की शक्ति अधिक होती है, और प्राचीन काल में काव्य का अधिष्ठान बहुधा कण्ठ और श्रुति ही होता था। इसके अतिरिक्त एक बात और है। पद्य वास्तव में मानस की ऋजुता के साथ संबद्ध है। वह भावों के सहज उच्छलन को तो भली-भाँति अभिव्यक्ति दे सकता है, किन्तु चिन्तन और तर्क-वितर्क के लिए या मानसिक जटिलताओं की अभिव्यक्ति के लिए अधिक उपयुक्त सिद्ध नहीं होता। इसलिए आधुनिक युग में जब कविता मुद्रित और पाठ्य अधिक होने लगी और साथ ही मानसिक जटिलताओं की सृष्टि उसके द्वारा की जाने लगी, तो वह गद्यात्मक भी होने लगी। किन्तु इसका विकास क्रमशः हुआ। पहले 'जुही की कली' और 'सन्ध्या सुन्दरी' जैसी वृत्तगंधी कविताएँ लिखी गईं, जिनमें छंद का बन्धन टूटने पर भी लय बंधन का निर्वाह पूरी तरह किया गया था। किन्तु निराला ने ही बाद में 'कुकर-मुत्ता' लिखा, जिसमें लयात्मकता का बन्धन भी शिथिल-सा ही था और भाषा अधिक गद्यात्मक थी। फिर निराला की ही कलम से 'मास्को डायलॉग्स' और 'कुत्ता भौंकने लगा' जैसी कविताएँ निकलीं, जिनमें ये बंधन और शिथिल थे। इस प्रकार नये कवि को गद्यात्मक काव्य की पृष्ठभूमि पहले से ही तैयार मिली किन्तु यह समझना भूल होगी कि नये कवि ने गद्यात्मक शैली ही अपनाई है। लय के बंधन का निर्वाह तो अधिकांश नयी कविताओं में मिलता ही है, कुछ कोमल भावनाएँ गीतों में बँधी हुई भी मिलती हैं। तीनों सप्तकों

में मिलाकर देखा जाए तो गद्यात्मक कविताएँ अनुपात में कम ही होंगी। जो कवि किसी प्रतिक्रिया से ग्रस्त नहीं हैं, वे इस मामले में प्रतिबद्ध भी नहीं हैं कि कविता केवल गद्यात्मक ही हो। किन्तु फिर भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि जैसे प्राचीन कवि के पद्य के प्रति प्रतिबद्ध न होते हुए भी उस काल में पद्य रचना ही अधिक हुई, वैसे ही आज गद्य रचना ही अधिक होगी, क्योंकि उसकी जड़ें हमारी मानसिक जटिलता के भीतर से निकली हैं।

अपने काव्य में गद्यात्मकता लाते हुए भी नया कवि काव्यात्मकता के प्रति अधिक सजग है। हिन्दी में वंशस्थ और मंदाक्रान्ता छंदों में लिखी कविता की अपेक्षा उसकी गद्यात्मक कविता अधिक सशक्त और सरस है—भाव और विचार दोनों की अभिव्यक्ति में। इसके दो कारण हैं, नया कवि उन्हीं भावों और विचारों को देने का प्रयास करता है, जो उसकी अनुभूति के पटल से छनकर आते हैं। और कविता की आत्मा बस यहीं निवास करती है। बहुधा ऐसा होता है कि कवि जिस विचार या भाव को ऊपर-ऊपर से ही कहकर पूरा समझ लेता है; वह उसे अनुभूतियों के रग-रेशों से नहीं जोड़ता। या यों कहें कि वह मात्र अर्थ पर ध्यान देता है, शब्द के साथ उसके साहित्य पर नहीं। अतः वह जो कुछ देता है, वह कविता नहीं होती। यदि उसमें विचारों की अभिव्यक्ति है, तो वह मात्र दर्शन या नीति का ग्रन्थ लगता है और भावों की अभिव्यक्ति है तो वह निहायत मुर्दा होती है। 'प्रियप्रवास' में छंदों की कारीगरी होते हुए भी यही हुआ है। इसीलिए छंदमयी होकर भी वह नये कवि के गद्य की अपेक्षा कम कविता है। इसी प्रकार अधिकांश प्रगतिवादी कवियों ने भी शब्दार्थ के साहित्य का ध्यान नहीं रखा। पंतजी इनमें प्रमुख हैं। उन्होंने वाणी को जन-मन में अपने विचारों को वहन कर सकने वाला साधन मात्र मान लिया। कविता को इस प्रकार 'पब्लिक कैरियर' बना देने का रिवाज चल पड़ा तो वह कविता के अतिरिक्त और सभी कुछ होने लगी। नयी कविता का ध्यान इस ओर

गया श्रौर उसने कविता के क्षेत्र में बहुत दिनों से टूटे हुए शब्द श्रौर श्रर्थ के सम्बन्ध को जोड़ा।

"सामाजिक उत्तरदायित्व जोड़ लेने से ही कृतित्व के क्षेत्र में कोई समस्या हल नहीं हो जाती। × × × जो कवि शब्द के संस्कार के प्रति सजग नहीं हैं (श्रौर जैसे जीव का हर कर्म उसके संस्कार को बदलता है, वैसे ही शब्द का नया उपयोग उसे नया संस्कार देता है) वह श्रर्थवान शब्द का साधन नहीं है, श्रौर मैं कहूँगा कि वह कवि नहीं है, न होगा।" (—श्रज्ञेय)

शब्द के संस्कार पर श्रर्थ के साथ उसके साहित्य पर बल देने के कारण कविता का वास्तविक स्वरूप प्रकाश में श्राया, श्रौर काव्येतर मूल्यों के साथ उसके जोड़े जाने का रिवाज भी समाप्त हुश्रा। कविता को पहले कविता होना चाहिए, इसके बाद वह नीति, धर्म श्रौर सदाचार से जुड़ी हुई हो सकती है, किन्तु यह सब एक तो उसके ऊपर से लदे हुए न हों, श्रनुभूति में से छनकर श्रायें, श्रौर दूसरे इन्हें काव्य-मूल के रूप में स्वीकार न किया जाय—इस प्रकार की धारणा प्रचलित हुई। "शताब्दियों पूर्व ध्वन्यालोकलोचनकार श्रभिनव गुप्त में 'श्रपूर्व यद्वस्तुं प्रथयति बिना कारण-कलाम्' श्रौर काव्यप्रकाशकार मम्मट ने 'नियतिकृत नियम-रहितां श्रनन्य परतंत्राम्' कहकर कविता की जिस स्वकीयता, स्वायत्तता श्रौर सापेक्ष स्वतंत्रता की स्थापना की थी श्रौर श्राधुनिक श्रंग्रेजी कवि इलियट ने 'द सेक्रेड वुड' द्वारा कविता की जिस निजी इंटीग्रिटी की रक्षा का प्रयास किया, नयी कविता ने हिन्दी में श्राज कविता के उसी स्वधर्म की पुनः प्रतिष्ठा का संकेत दिया है।" (—डॉ० नामवर सिंह)

शब्द के संस्कार के प्रति कवि की यह संचेतना श्रौर शब्दार्थ के साहित्य की खोज करते हुए कवि कविता की निजी इंटीग्रिटी की ही रक्षा करना, जैसा कि उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है, कोई नये कवि की ही खोज नहीं है। वह वास्तव में उतनी ही पुरानी है जितनी कविता, श्रौर हर सफल श्रेष्ठ कवि के काव्य में उसका श्रनुसंधान किया जा सकता है। इतना

अवश्य है कि इधर काव्येतर मूल्यों के आरोपण के कारण यह विस्मृत हो गई थी, विशेषतः प्रगतिवादी काव्य में नये कवि ने उसकी पुनः प्रतिष्ठा का प्रयास किया है।

इस प्रकार कविता की इंटीग्रिटी और स्वायत्तता को कायम रखते हुए शब्द के संस्कार के प्रति जागरूक रहते हुए, धर्म, दर्शन आदि के लबादों से रहित मानव को उसके मन की समस्त जटिलताओं के साथ युगीन संदर्भों में चित्रित करने का कठिन दायित्व लेकर प्रयोगधर्मा नया कवि आगे बढ़ा। उसने पूर्वाग्रहों से मुक्त रहने का संकल्प किया, नये मूल्यों की खोज का व्रत लिया और सामाजिक सापेक्षता में व्यक्ति की गरिमा को प्रतिष्ठित करने का निश्चय किया। किन्तु यह सब कोई सरल कार्य नहीं था। इसके लिये समय और अनुसंधान की आवश्यकता थी। अनुसंधान जारी है, और समय आयेगा जब नयी कविता अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचेगी। अभी तो उसके प्रयोग का आरम्भ ही हुआ है। अभी तो उसे अपने अस्तित्व के लिए ही संघर्ष करना पड़ता है। इतने दायित्वों को एक साथ निभाने के प्रयास में नयी कविता में कहीं-कहीं पर्याप्त दुरूहता भी आ गई है। किन्तु यह दुरूहता इष्ट कभी नहीं हो सकती और न उन दुरूह कविताओं को सफल सृष्टि ही माना जा सकता है। वे अधिक से अधिक असफल प्रयोगों के रूप में ग्रहण की जा सकती हैं। और आगे आने वाले सफल प्रयोगों के लिए खाद का काम कर सकती हैं। यह दलील नहीं दी जा सकती कि अनुभूतियों की जटिलता के कारण अभिव्यक्ति में दुरूहता आ जानी स्वाभाविक है। कविता कुछ भी बन जाय, गणित का प्रश्न और ज्यामिति का साध्य नहीं बन सकती। उसका सर्वाधिक अनिवार्य गुण प्रसादत्व ही है, क्योंकि उसका सबसे बड़ा उद्देश्य प्रमाता को अनायास आकर्षित कर लेना है। और यह तभी संभव होगा जब वह अनायास ही समझ में आने योग्य होगी। अरमणीय या अनाकर्षक कविता कभी ग्राह्य नहीं हो सकती। सूखी लकड़ी में दिप से जल उठने वाली अग्नि की भाँति कविता का संप्रेष्य जब तक हमारे मन में

दीपित नहीं हो उठता, वह न आकर्षक हो सकती है और न सफल। मुक्तिबोध की कविताओं में संवेदनात्मक जटिलता को अभिव्यक्त देने की दुर्दम तड़प के कारण यह दुरूहता कुछ अधिक हो गई है, इसे उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है, "....अपने काव्य की अस्पष्टता पर मेरी दृष्टि गई। (तार सप्तक—वक्तव्य)। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि नये कवि में स्वच्छता का अभाव है। स्वयं मुक्तिबोध की अनेक रचनाएँ आश्चर्यजनक रूप से स्वच्छ बन पड़ी हैं। उनकी 'अंधेरे में' कविता इसका अप्रतिम उदाहरण है।

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, कुँवर नारायण, कीर्ति चौधरी, विजयदेव नारायण साही आदि की रचनाओं में भी अभिव्यक्ति बड़ी स्वच्छ है। श्रीराम वर्मा, श्रीकांत वर्मा, लक्ष्मीकांत वर्मा और रघुवीर सहाय की कुछ अस्पष्ट रचनाओं के बावजूद भी पर्याप्त रचनाएँ स्वच्छ और सशक्त कविताओं के उदाहरण के रूप में दी जा सकती हैं।

निष्कर्ष रूप में नयी कविता की दो प्रमुख प्रवृत्तियां मिलती हैं—विशुद्ध मानव की मानसिक जटिलता और शब्द संस्कार के प्रति सजगता। एक वाक्य में कह सकते हैं—शब्द संस्कार के प्रति सजग रहते हुए मानसिक जटिलताओं की काव्यमयी सृष्टि। अब हम एतद्‌गुण-विशिष्ट नयी कविता को परम्परा के प्रवाह में रखकर देखेंगे और उसकी विशेषताओं का अन्वेषण करेंगे।

अभी तक मानव-मन या तो आध्यात्मिक शक्तियों के प्रभाव से आवृत्त रहता आया है या फिर आधिभौतिक शक्तियों से। इसीलिये साहित्य के क्षेत्र में भी वह अपने विशुद्ध रूप में बहुत कम उद्‌घाटित हो सका। प्राचीन साहित्य में या तो अवतारों का चरित-गान है या बड़े-बड़े प्रतापी राजाओं का। वहाँ कहीं कोई अभाव नहीं है, दैनिक, दैहिक, भौतिक कोई भी ताप वहां व्याप्त नहीं होते, दुर्दिन आते हैं किन्तु थोड़े समय के लिये। अन्त में बादल छँटते हैं और सुख का, आनन्द का, सूरज उगता है। आधुनिक काल के उन्मेष के साथ ही साथ आध्यात्मिक और भौतिकता

के बीच जैसे समन्वय स्थापित हो जाता है, और नैतिकता की भावना साहित्य पर छा जाती है। सब कुछ मर्यादा के बन्धनों में बँधा हुआ, नपा-तुला। तभी कुछ भावुक युवा कवियों के मन में प्रश्न उठता है कि क्या मानव इसीलिए है कि कभी किसी ईश्वर के चरणों में अपनी भक्ति का निवेदन करे, कभी किसी राजा के वैभव और भोग का उच्छिष्ट खाकर जीवित रहे, कभी देश के लिए बलिदान हो तो कभी जाति के लिये। उसका छोटा-सा प्रेम, लघु वेदना, हल्के-हल्के मेघ-खंडों से कल्पना के आकाश में जुड़ने वाले सपने का क्या निपट अस्तित्वहीन हैं? किन्तु ये प्रश्न उठे और रहस्य की कुज्झटिका में सो गए; कवि के पास इन्हें स्पष्ट स्वर देने का साहस अभी नहीं आ पाया था। इसके लिए कविता को एक पीढ़ी तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। नया गीतकार आया और उसने 'प्यार-जवानी और जीवन' के जादू को एक ललकार भरी आवाज के साथ स्वीकार किया। उसने स्पष्ट उद्घोष किया: 'यों भुज भरकर हिये लगाना क्या है कोई पाप।' इस प्रकार लघु मानव की प्रतिष्ठा साहित्य में आरम्भ हुई, यद्यपि उसका क्षेत्र प्रेम ही अधिक रहा था। यों कहें कि उसमें कवि यौवन प्रेम की शक्ति से अभिभूत था। फिर प्रगतिवादी काव्य ने जन-समाज की दरिद्रता और दीनता को चित्रित करके एक दूसरे रूप में लघु मानव की प्रतिष्ठा की। ये दोनों दो छोर थे। एक में व्यक्ति अपनी वेदना में डूबा हुआ समाज से निस्संग था, और दूसरे में समाज ही सब कुछ था, व्यक्ति की अपनी वेदनाएँ कुछ नहीं थीं। दूसरे में प्रगतिवादी शब्द-संस्कार की भी उपेक्षा कर रहे थे। वस्तुतः ये लोग द्वन्द्वात्मक भौतिक-वाद से बहुत अधिक अभिभूत थे और मानव को उसके विशुद्ध रूप में नहीं देख पा रहे थे। इधर पश्चिम में अस्तित्ववादी दर्शन का अस्वस्थ रूप भी वहाँ के नये कवि को अभिभूत किए था, जिसके कारण वहाँ की कविता का मानव आत्मरति और समाज के प्रति अनुत्तरदायित्व की भावना के विष से मूर्छित हो चला था। इस प्रकार कविता और मानव के वास्तविक रूप को आवृत्त कर देने वाली बहुत-सी हवाएँ चल रही थीं और हिन्दी का कवि उनके बीच से मार्ग खोज रहा था! 'तारसप्तक' से लेकर अब तक मार्ग की यह खोज चल रही है। यद्यपि रास्ते स्पष्ट

होते चले आये हैं, फिर भी भटकाव बाकी है। किन्तु इतना तो साफ है कि नये कवि ने अब तक मानव को विशुद्ध रूप में प्रतिष्ठित कर दिया है, और उसकी जटिलताओं को कविता में स्पष्ट कर रहा है। इस खोज में बहुत-सा कूड़ा-कचरा भी जमा हो गया है। बहुत से गलत रास्ते भी पकड़े गए हैं, बहुत से भटकाव सामने आये हैं, किन्तु इनसे कुल मिलाकर नयी कविता की दृष्टि स्पष्ट ही हुई है। कुछ प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण भी अपनाये गये हैं जैसे भावुकता और रूमानियत को काव्य क्षेत्र से बिलकुल बहिष्कृत कर देने की माँग, ठोस गणितज्ञ की भाँति बौद्धिक हो जाने का आग्रह, संत्रास का अनुभव करते हुए शुतुरमुर्ग-धर्म को अपना लेने की जिद, आदि। किन्तु ऐसा होना कभी सम्भव नहीं हो सकता, प्रतिक्रिया के रूप में थोड़े समय के लिए भले ही हो जाये, कविता का शाश्वत धर्म नहीं बन सकता, क्योंकि मानव की प्रकृति से न तो कभी भावुकता ही निकाली जा सकती है, न सदा के लिए उसे संत्रास में पकड़कर बाँधा जा सकता है। प्रेम करना, कही समर्पित हो जाना, आत्मोत्सर्ग की प्रेरणा से मुक्त हो जाना और साहसपूर्वक बाधाओं का सामना करना, मानव की शाश्वत प्रकृति है। इससे मुक्त हो जाने का आग्रह हठयोगी का आग्रह ही होगा, और नयी कविता विशुद्ध मानव को चित्रित करने के जिस धर्म को लेकर चली है, उससे भी च्युत हो जायेगी। क्योंकि विशुद्ध मानव अपनी संपूर्ण शक्तियों और संभावनाओं के साथ ही विशुद्ध है, कुछ से रहित और कुछ से सहित होकर नहीं। इस बात को जो नहीं समझ पाते, वे बहुधा शिकायत करते हैं कि नयी कविता अभी तक सच्चे अर्थों में नयी नहीं हो पायी है, क्योंकि रूमानियत कभी-कभी उसमें दिखाई देती है। ऐसे लोग ही इस प्रकार की रचनाएँ करते हैं—

जिस दिन
शाम के रंग
मुझे जख्म पोंछी
रुई भरे टिन से गंदे लगे
× × ×

करीने से फाइल किए
चंद्रमुखी चेहरों की
खो गई सूची
और थूक दिया जिस दिन
रसज्ञता ने खाँसकर
अनजाने अजन्ता के चित्र पर
× × ×
उस दिन लिखी गई
कविता दुबारा।

(मुद्राराक्षस)

और जो मानव की सही संभावनाओं को जानते हैं, वे इस प्रकार की बात कहते हैं—

घृणा से टूटे हुए लोगो
दर्प और अनास्था से असंतुष्ट महिलाओ
वक्तव्य न दो।
× × ×
प्रतीक्षा करो
शायद कहीं
शब्द की अग्नि
रजनीगंधा की महक
और प्रार्थना सभा की अधजली
मोमबत्तियों का दर्द
तुम्हें छू जाय

(नंद चतुर्वेदी)

यह सही है कि नया कवि जब लघु मानव को अपने विशुद्ध रूप में चित्रित करने चला है तो उसके ऊपर दायित्व भी बढ़ गये हैं। नीत्शे ने ईश्वर के मरने की घोषणा कर दी, किन्तु उसके साथ ही यह भी कहा

कि मनुष्य पर इससे पहले की अपेक्षा कहीं अधिक दायित्व बढ़ गया है। वल्कि ईश्वर का दायित्व अब उसे ही अपने कंधों पर लेना है। इसी प्रकार राजा के अवसान के बाद लघु मानव को ही समाज और सुरक्षा का दायित्व लेना है। ईश्वर और राजा की मृत्यु मानव को उच्छृङ्खल और अराजक बना देने के लिए नहीं हुई है, समाज के प्रति उत्तरदायित्व से रहित हो जाने के लिए भी नहीं हुई है, अधिक संयमित और सशक्त होने के लिए ही यह सब हुआ है। लघु मानव या बिना बैसाखियों के अपने पैरों पर खड़े विशुद्ध मानव का अर्थ यह बिलकुल नहीं है कि वह शक्तिहीन है संकल्प-रहित है, और उसे किन्हीं ऊँचाइयों पर पहुँचने की कोशिश नहीं करनी है, किन्हीं मूल्यों का निर्माण नहीं करना है, कोई उत्तरदायित्व नहीं निभाने हैं। इसका अर्थ सिर्फ इतना ही है कि अब उसने मानवेतर शक्तियों पर विश्वास करना छोड़ दिया है, ऊपर से लबादे की तरह ओढ़ी गई या लम्बी दाढ़ी-मूंछ की तरह लगाई आस्थाओं से मुक्ति पा ली है, और उस विराटता को तिलांजलि दे दी है, जो उसके व्यक्तित्व में कुछ जोड़ती नहीं, उसे शक्तिशाली नहीं बनाती, अपितु एक बोझ बनकर उसके कंधों पर खड़ी है, जिससे उसकी रीढ़ झुक गई है और हड्डियाँ चरमराने लगी हैं। अब वह ऐसी आस्थाओं को सँजोना चाहता है, जो उसके भीतर जल कर उसे प्रकाशित करती रहें, उस विराटता की उपलब्धि करना चाहता है, जो उसके व्यक्तित्व पर बोझ न बने, उसके कुछ काम आये। इसके लिए वह अपनी पूरी शक्ति के साथ प्रयत्नशील है, किन्तु उसके मस्तिष्क के भीतर सात तालों में बन्द कोई 'ओरांग उटांग' समस्त समाज की चेतना पर ऐसा छा गया है कि चाँद का मुँह टेढ़ा हो गया है, चाँदनी साँवली हो गई है, और अँधेरे में निकलने वाले भयंकर जुलूसों में तथाकथित प्रतिष्ठित लोग शामिल होने लगे हैं। नया कवि इन लोगों को जुलूस में शामिल होते हुए देख लेने के कारण बागी हो गया है। वह इस अँधेरे से, ओरांग-उटांग से मुक्ति पाने के लिए छटपटा रहा है। लेकिन सब मानवेतर सहारे उसने छोड़ दिये हैं और अपनी लघुता में कांपते पैरों को

जमाता हुग्रा जीने की ऊँची सँवलाई सीढ़ियों पर चढ़ता है, गिरकर घायल होता है, फिर चढ़ता है। साहस उसका दुर्दम है, वह जिंदगी के सरोवर में रक्त-कमल खिलाना चाहता है। विशुद्ध लघु मानव की समस्त संभावनाग्रों में पूर्ण ग्रात्मसंभवा, ग्रनिवार परम ग्रभिव्यक्ति को खोजने की तड़प उसके मन में बड़ी बेचैनी से करवटें बदल रही है, ग्रौर इसी की खोज में वह हर गली, हर सड़क एक-एक चेहरे के भीतर झाँककर देख रहा है। यही द्वन्द्व ग्रौर छटपटाहट, बिना किसी मानवेतर सहारे के मार्ग खोजने की बेचैनी ही नये कवि की संवेदनात्मक जटिलता के कारण है। मुक्तिबोध में इस प्रकार की जटिल संवेदना सबसे ग्रधिक मिलती है। ग्रतः ऊपर हमने जो विवरण दिया है, वह उन्ही की कविताग्रों के ग्राधार पर। नीचे कुछ उदाहरण भी उन्हीं की कविताग्रों से देकर हम ग्रपनी बात की पुष्टि करेंगे :—

(१) विशुद्ध मानव की स्वरूपोपलब्धि—

दिल को ठोकर
वह विकृत आईना मन का सहसा टूट गया
जिसमें या तो चेहरा दिखाता था बहुत बड़ा
फूला फूला
या अकस्मात् विकलांग व छोटा-छोटा सा।'

(एक ग्रंतर्कथा)

(२) मानवेतर शक्तियों की ग्रस्वीकृति, ऊपर से चिपकाये मूल्यों पर ग्रनास्था, मानव की गरिमा ग्रौर जीवन की गहराइयों के बीच से उठकर ग्राये हुए मूल्यों पर विश्वास—

फिर भी, यशस्काय दिक्काल सम्राट्
तुम कुछ नहीं हो, फिर भी हो सब कुछ !!
काल्पनिक योग्य की पूँछ के बालों को काटकर
होठों पर मूँछ लटका रखी है !!

× × ×

पर तुम भी खूब हो,
देखो तो—
प्रतिपल तुम्हारा नाम जपती हुई
लार टपकाती हुई आत्मा की कुतिया
स्वार्थ सफलता के पहाड़ी ढाल पर
चढ़ती है हाँफती
राह का हर कोई कुत्ता जिसे छेड़ता है।

× × ×

मेरे इस साँवले चेहरे पर कीचड़ के धब्बे हैं, दाग़ हैं
और इस फैली हुई हथेली पर जलती हुई आग है
अग्नि विवेक की !
नहीं, नहीं, वह—वह तो है ज्वलंत सरसिज
वक्ष तक पानी में फँसकर
मैं वह कमल तोड़ लाया हूँ।

× × ×

मुझे तेरी बिल्कुल जरूरत नहीं है
(एक अरूप शून्य के प्रति)

(३) जीवन के यथार्थ ज्वलनशील मूल्यों को खोज लेने की छटपटाहट—

लहराओ, लहराओ नागात्मक कविताओ
झाड़ियों छिपो
उन श्याम झुरमुटों तले कई
मिल जायँ कहीं
वे फेंके गये रत्न, ऐसे
जो बहुत असुविधा-कारक थे
इसलिए कि उनके किरण-सूत्र से होता था

पट-परिवर्तन, यवनिका-पतन
मन में जग में।

ओ काव्यात्मन् फणिधर
अपना फन फैलाओ!
मणि-गण को धारण करो, उन्हें
वल्मीक-गुहा में ले जाओ,
एकत्र करो

(ओ काव्यात्मन फणिधर)

(४) अंतःकरण के आलोड़न से उठकर आई विशुद्ध मानव की पूर्णता को प्राप्त करने की विफलता—

वह रहस्यमय व्यक्ति
अब तक न पाई गई मेरी अभिव्यक्ति है :
पूर्ण अवस्था वह
निज संभावनाओं, निहित प्रभावों, प्रतिमाओं की,
मेरे परिपूर्ण का आविर्भाव,
हृदय में रिस रहे ज्ञान का तनाव वह,
आत्मा की प्रतिमा।

× × ×

खोजता हूँ पठार, पहाड़, समुंदर
जहाँ मिल सके मुझे
मेरी वह खोई हुई
परम अभिव्यक्ति अनिवार
आत्म-संभवा।

(अंधेरे में)

(५) परम आत्माभिव्यक्ति को प्राप्त करने में बाधक तत्व—

अँधियारे मैदानों के इन सुनसानों में
बिल्ली की बाघों की आँखों-सी चमक रहीं

ये राग-द्वेष ईर्ष्या भय मत्सर की आँखें।
हरियातूता की जहरीली नीली-नीली
ज्वाला कुत्सा की आँखों में

× × ×

मानव-मस्तक में से निकले
कुछ ब्रह्मराक्षसों ने पहनी
गाँधी जी की टूटी चप्पल।

(डूबता चाँद कब डूबेगा)

इन कविताओं में लघु मानव की संवेदनात्मक जटिलता तो है ही, शब्द के संस्कार के प्रति भी एक सजगता है। जिस प्रकार नये रास्तों की खोज की छटपटाहट है, उसी प्रकार शब्दार्थ के नूतन साहित्य के अन्वेषण की बेचैनी भी है। वस्तुतः अनुभूति की जितनी अधिक तड़प होगी, उतनी ही बेचैनी शब्द की खोज के लिए भी होगी। उदाहरण के लिए ऊपर के तीन नम्बर के उद्धरण को ही ले लें। कवि ने अपनी कविता को फणिधर की भाँति लहराने के लिए उद्बुद्ध किया है। सर्प जैसे अपनी मणि की खोज के लिए विकल रहता है, वैसे ही कविता खोये मूल्यों की खोज के लिए छटपटाती घूमे। इसकी तुलना में पन्त जी की 'वाणी' शीर्षक प्रसिद्ध कविता देखें तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि भाषा के स्तर पर भी नये कवि में कितनी तड़प है। पंत जी ने कविता को पक्षी का रूप देकर जन के मनोनभ में विहार करने का आग्रह किया है। पक्षी के इस विहार में खोज की वैसी तड़प नहीं है, जैसी कँटीली झाड़ियों के श्याम झुरमटों में अपनी प्यारी मणि को खोजते हुए विकल विषधर में। इसी प्रकार ब्रह्मराक्षस जैसी फैन्टेसियाँ भी शब्द को नया संस्कार देने की बेचैनी की ही प्रतीक हैं।

मुक्तिबोध के अतिरिक्त अन्य कवियों में भी पुराने मूल्यों पर जितनी अनास्था है, नये मूल्यों की स्थापना के प्रति उतना ही आश्वासन है। वे

पुराना तोड़कर शून्य में संत्रस्त होकर ही नहीं बैठ जाना चाहते, कुछ नया होना भी चाहते हैं :—

जाओ ईमान तुड़ा लाओ न !
भुना लाओ सारी आस्थाएँ
सारे विश्वास
जिन्हें तुमने सहेजा है
और इन सबको ही
दाँव पर लगाओ न !
जीतोगे,
जीतोगे....
तुम अवश्य जीतोगे

(राजनारायण बिसारिया)

पुराने विश्वासों के खोखलेपन को वह महसूस करता है, इतना ही नहीं, वह उन्हें चुनौती देने को भी तैयार है :—

नबी तुम्हारी पोली छाती में यह क्या है ?
बंजर मिट्टी
पंगु तरलता
झूठी ज्वाला
रुद्ध हवाएँ
सबके भीतर खालीपन है
खालीपन है
सुनो नबी, मैं तुम्हें चुनौती फिर देता हूँ।

(विजयदेव नारायण साही)

अभिव्यक्ति की स्पष्टता, स्वर की निर्भीकता और अनुभूत्यात्मक वैचारिकता को उपर्युक्त सभी कविताओं में स्पष्ट देखा जा सकता है। यह निर्भीकता और साफगोई अनुभूति की गहनता और आत्मविश्वास से ही उत्पन्न होती है। प्राचीन कवियों में भी इसका अभाव नहीं रहा।

कवि एक प्रबुद्ध प्राणी होता है। वह बहुधा अपने युग से आगे बढ़ी हुई बात कहता है, और लोगों में उसे मानने की समझदारी का अभाव होता है तो कवि के संवेदनशील मन को ठेस लगती है, और उसकी वाणी में कुछ तीव्रता और अस्पष्टता आ जाती है। कभी तल्खी और कभी व्यंग्य भी उभर आते हैं। कबीर जब पण्डित या मौलवी को संबोधित करते हैं तो उनका अन्दाज बहुत कुछ यही रहता है; तुलसी जब 'काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब' जैसी दो-टूक बात कहते हैं या खलों की वंदना करते हैं तो उनकी भंगिमा कुछ ऐसी ही रहती है, उर्दू शायर जब शेख की खबर लेते हैं तो उनका लहजा कुछ ऐसा ही रहता है। 'तृप्यंताम्' जैसी व्यंग्य कविताओं में प्रतापनारायण मिश्र या भारतेन्दुकालीन अन्य कवियों के हृदय में जलती हुई ज्वाला ही अभिव्यक्त हुई है। यह चुभन लिए हुए व्यंग्य और यह साफगोई सामाजिक वेदना को यथार्थ के स्तर पर गहराई से अनुभूत करने वाले कवि में सदा उत्पन्न होती रहती है और नये कवि में भी यह मिलती है। इसीलिए जहाँ दूसरे सन्तुष्ट और प्रसन्न दिखाई देते हैं, गद्गद होकर हर्ष-गान करते हैं, नया कवि असन्तुष्ट सुकरात की तरह खीझता हुआ मिलता है। आजादी, लोकतन्त्र और इसी तरह की तमाम चीजों को वह किताबी तौर पर नहीं लेता, देश-भक्ति उसके लिए कोई भावुकता की चीज नहीं है, मातृभूमि की वन्दना करके ही वह संतुष्ट नहीं हो जाता, वह कबीर की तरह गहरे पानी पैठने में विश्वास करता है और इसीलिए जहाँ दूसरे खाते और सोते हैं, खुश रहते हैं और जीते हैं, वहाँ वह रोता है और जागता है। भारतेन्दुकाल के कवि का देश और जाति के प्रति जो दृष्टिकोण बना था, वह अधिक वस्तुनिष्ठ और परिष्कृत रूप में आज इतने अंतराल के बाद फिर उभरता दिखाई देता है। कुछ उदाहरण पर्याप्त होंगे :—

(१) लोकतंत्र को जूते की तरह
लाठी में लटकाए
भागे जा रहे हैं सभी

सीना फुलाए।

(सर्वेश्वर)

(२) हमारा राष्ट्रपति
गीता के निष्काम कर्म की व्याख्या विधान सभाओं में
सुना रहा है
और मेरे देश की आध्यात्मिक ऊँचाइयाँ
चीनी सिपाहियों के पंजे में कसमसा रही हैं
नगर में युवक सिनेमा के पोस्टर पढ़ रहे हैं।

× × ×

हैदराबाद के म्यूजियम में एक घड़ी है
जिसमें से गान्धी
हर घंटे पर दरवाजा खोलकर बाहर आते हैं
और लौट जाते हैं
स्वामी दयानन्द का सत्यार्थ प्रकाश।
और तिलक का गीतारहस्य
बनियों ने खरीद लिया है

(विष्णुचन्द्र शर्मा)

(३) मैं कहना चाहता हूँ—
यह कायरों का देश है
यहाँ लोग देखने को आगे देखते हैं
चलने को पीछे चलते हैं
घुनी लकड़ियों के धनुष बनाते हैं
और विवेक के नाम पर
प्रत्यंचा चढ़ाने से मना कर देते हैं

(सर्वेश्वर)

(४) श्रीमान्
श्री श्री····श्री लक्ष्मीकान्त

बाल बिखरे
गाल चिपके
निष्प्रभ····
····क्लान्त
आदि से अन्त तक
केवल अतुकान्त
श्रीमान्
श्रीयुत्
श्री श्री श्री लक्ष्मीकान्त
················
················
················

कवि हो
छंद नहीं, लय नहीं
केवल गीत
········पैराशूट
················
················मूर्ख हो यार।

इन कविताओं में हमें शब्द-संस्कार के प्रति भी कवि की सजगता के दर्शन होते हैं। हैदराबाद के म्यूजियम में रखी हुई घड़ी कोई खास चीज नहीं है; गान्धीजी का इसमें हर घंटे पर बाहर आना अद्‌भुत है, किन्तु वह किसी मार्मिक संवेदना की अभिव्यक्ति तभी हो सकती है, जब एक विशेष भंगिमा के साथ कवि उसे प्रस्तुत कविता में विन्यस्त कर देता है। तब ये सामान्य शब्द एक असामान्य अर्थ के वाहक हो जाते हैं। इस कविता का सारा सौष्ठव और संवेदना की सारी गहनता शब्द के इसी प्रकार के संस्कार पर आधारित है। 'यह कायरों का देश है' बिना किसी लाग-लपेट के कहा गया यह वाक्य उन हवाई किस्म के उद्‌गारों से कहीं

अधिक प्रभावी और मार्मिक है जो देश की प्रशंसा में कहे जाते हैं, किन्तु जिनमें गहनता का सर्वथा अभाव होता है। घुनी लकड़ियों के धनुष बनाना और विवेक के नाम पर प्रत्यंचा चढ़ाने से मनाकर देना भी शब्दों को नया और मार्मिक अर्थ देने का सफल प्रयास है। लक्ष्मीकांत की कविता में जीवन की विडम्बना पर गहरा व्यंग्य है, जिसे सामान्य शब्द-विन्यास द्वारा ध्वनित करने का प्रयास किया गया है। विशुद्ध मानव की खोज भी हमें इन कविताओं में स्पष्ट मिलती है। कवि उन समस्त आदर्शों और मूल्यों को निर्ममता से झाड़ देना चाहता है, जो जीवन-डाली पर लगे-लगे ही सूख गए हैं, चाहे वे कितने ही बड़े क्यों न हों। लोकतंत्र यदि जूते की तरह लाठी में लटकाने की चीज हो, आध्यात्मिक ऊँचाइयाँ यदि हमें निर्बल बना दें, वह तथाकथित विवेक जो हमें कायर बना दे, विशुद्ध मानव की वस्तु नहीं है, लबादा है, जिसे उसने ओढ़ लिया है। और नया कवि उसे उतारकर मानव की यथार्थ शक्ति का उद्घाटन करना चाहता है।

यह तल्खी का स्वर नयी कविता में कभी-कभी प्रकृति-चित्रण के माध्यम से भी उभरकर आता है। प्रातःकाल का वर्णन करते हुए कवि की त्वचा मलयानिल का स्पर्श नहीं करती, न यज्ञ-धूम या सुमन-गन्ध उसके नासापुटी को तरंगित करती है, और न खगों का कलरव उसके श्रवणों को झंकृत करता है;

वह तो अनुभव करता है—

सूरज उगते ही
मनहूस लोग भजन गाने लगते हैं
और हम अपनी बेकारी की
सोचने लगते हैं।

(जगदीश चतुर्वेदी)

कभी-कभी वह अपनी लघुता में भी इतना अधिक आश्वस्त रहता है—

मुर्गे ने बाँग नहीं दी

तो क्या
मुन्ना ने दूध पिया
पत्नी ने जलाया चूल्हा
और मैंने सिगरेट
इस तरह हमने उदित किया सूर्य को
पर किरण नहीं आई
वह सोई रही छत पर पराये घर

(श्रीराम वर्मा)

इस प्रकार रात में समाज की गंदगी पर उसकी निगाह जाती है :—

अकेलेपन का साँप रेंग रहा है
और उगल रहा है आत्मरति का विष
बंद हैं दरवाजे
और बिस्तरों पर खामोश पड़ी है रात
नीली रोशनी में कैद।

× × ×

जीनों पर मिलते हैं लिपिस्टिकों के ट्यूब
ड्यूरापैक के पैकिट
और शक्ति देनेवाली गोलियों के कवर
तमाम देश कैद है लिजलिजी चादर में
नींद की गोलियाँ सबसे ज्यादा बिकती हैं।

(जगदीश चतुर्वेदी)

प्रकृति के अतिरिक्त प्रेम के क्षेत्र में भी इस प्रकार की शैली के दर्शन हो जाते हैं, जैसे कैलाश वाजपेयी की 'ढाई आखर' कविता में।

हर इंटलेक्चुअल इससे नफरत करता है/पिछली शताब्दी में यह पूरे जोरों पर था/इसकी पैदाइश सभी जगह/हर मौसम में हो सकती है/

× × × अक्सर इन बड़े समाजों में/यह साप्ताहिक, मासिक या सालाना तक होता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकालना सही नहीं होगा कि नयी कविता में यही तल्खी और व्यंग भरा स्वर ही मिलता है, जीवन को सहज रूप में ग्रहण करने की प्रवृत्ति नहीं मिलती। ऐसा नहीं है। सहज भावनाओं की भी उसमें कमी नहीं है, बल्कि यह कहना चाहिए कि भावनाओं का सहज मानव सुलभ रूप हमें बहुत दिनों बाद नयी कविता में दिखाई देता है। पहले यौनाकर्षण को ही लें; वह मानव की प्रबलतम प्रवृत्ति है, और संसार का शायद तीन बटे चार साहित्य उसी का प्रतिफलन है। रामायण और महाभारत में यह आकर्षण बड़ा अनगढ़ है, और उसमें शारीरिकता का ही भाग अधिक है। रामायण के सीता-वियोगी राम मन्मथावेग से व्याकुल हैं, और लक्ष्मण के सम्मुख उसका वर्णन करने में कोई कुण्ठा उनके मन में नहीं है। कालिदास में भी हमें नर-नारी के आकर्षण की यही अकुंठ अभिव्यक्ति मिलती है। शरीर का आकर्षण वहाँ कोई पाप नहीं है, और कवि को यह स्वीकार करने में भी कोई हिचक नहीं है कि प्रेमी-प्रेमिका की सारी बेचैनी और सारी तड़प बस शारीरिक मिलन की चरम स्थिति के लिए है। हिन्दी के भक्ति-कालीन साहित्य में हमें तुलसी को छोड़कर सर्वत्र रति का यही रूप दिखाई देता है। किन्तु वह सामान्य व्यक्ति की रति नहीं, भगवान् की रति है, जिसका अपना एक आध्यात्मिक महत्व है। यहाँ ध्यान से देखने पर एक नयी बात भी फूटती हुई मिलती है। भ्रमरगीत जैसे उत्कृष्ट विरह-काव्यों में शरीर जैसे पीछे छूट जाता है, वहाँ यह नहीं लगता कि शारीरिक मिलन के लिए यह सारी जलन है, वह तो बस कृष्ण के लिए है, उनकी रूप-माधुरी की एक झलक के लिए है। फिर धीरे-धीरे यह सब भी पीछे छूटता दिखाई देता है—वे जहाँ रहें सुखी रहें, कुशल से रहें, नहाते हुए भी उनका एक बाल न टूटे। शरीर से मन की ओर रति की यह यात्रा आगे चलती रहती है। रीतिकाल में घनानन्द की कविता में इसके

स्पष्ट दर्शन होते हैं। वहाँ सुजान का विरह गहरे पैठ गया है, मन का ताप शरीर के ताप पर छा गया है। वहाँ 'मेघदूत' की भाँति संभोग की चटक स्मृतियाँ नहीं हैं, न प्रियतम के साथ सुख-भोग करने की मादक अभिलाषा है, पवन से उन चरणों की धूल ला देने का आँसू-भरा आग्रह भर है। इधर एक बात देखने में और आती है। शृङ्गार का बँधा हुआ रूप भी टूट चला है। अब वियोग के बाद मिलन अवश्यंभावी नहीं है। सूर की गोपियाँ चिर-वियोगिनी हैं। हृदय की आँखों में नेह की पीर बसा लेनेवाले घनानंद का भी शेष जीवन विरह की ही विभूति है। यह रति के यथार्थ के क्षेत्र पर अवतीर्ण होने का प्रमाण हैं। आधुनिक काव्य के द्विवेदी-युग में हम इस रति को कर्त्तव्य की राह पर गार्हस्थ्य की लीक में बँधा हुआ पाते हैं। वहाँ इसका उद्देश्य न तो शारीरिक मिलन है, न जीवन भर व्यथा की आरती जला कर जीना है, अपितु कर्त्तव्य भावना को और अधिक उद्दीप्त करना है। छायावाद में यह प्रेम फिर वैयक्तिक हो जाता है। नारी वहाँ स्वप्न-लोक में विहँसती परी है, पारिजात के फूलों से बनी माला है। यह नहीं कि वहाँ शरीर का आकर्षण है ही नहीं, वहाँ भी रक्त खौला देनेवाला व्याकुल चुम्बन है—तृषा-तृप्ति के मिस से शीतल प्राणों को थपका देने-वाला चुम्बन, किन्तु वह प्राचीन कवि की भाँति चरम प्राप्य नहीं है, चरम प्राप्य तो है नारी की वह मुस्कान, जो इच्छा-ज्ञान और क्रिया का सामंजस्य करके मानव को उसकी मानसिक ऊँचाइयों के शिखर पर पहुँचा देती है। नारी वहाँ मानव के उच्चतम मानसिक विकास का प्रतीक है, केवल शारीरिक सौंदर्य का अधिष्ठान ही नहीं है। प्रगतिवाद में नारी का रूप फिर बदलता है। अब वह स्वर्गिक आभा से मंडित नहीं है, न पुरुष की अपेक्षा अधिक उदात्त और श्रेष्ठ है। पुरुष के साथ वह खेतों और कारखानों में काम करनेवाली है। दोनों के मिलन का उद्देश्य शरीर की भूख को तृप्त करना भर ही है। किन्तु उस तृप्ति में विलास नहीं है; एक आवश्यकता की पूर्ति भर है। साथ ही, विलास के लिए बुर्जुआ वर्ग नारी को किस प्रकार 'एक्सप्लॉयट' करता है और वह अपना

शरीर बेचने को बाध्य हो जाती है उसका जीवन किस प्रकार सिसकी भरते हुए बीतता है, यह सब प्रगतिवादी साहित्य में खूब दिखाया गया। यों कहें कि यहाँ आकर यौनाकर्षण को एक ओर तो शारीरिक आवश्यकता (नेसेसिटी, लग्ज़री नहीं) के रूप में मान्यता देने का प्रयास किया गया और उसे सामाजिक परिप्रेक्ष्य में देखा गया। इधर व्यक्तिवादी गीत काव्य-धारा में शरीर की माँग को स्वीकार करते हुए और किसी क्षितिज के पार न जाकर इस पार ही रहते हुए यौवन के सहज आकर्षण को चित्रित किया गया, किन्तु साथ ही यह भी दिखाया गया कि अपने इसी आकर्षण में नारी जीवन के लिए प्रेरक हो उठती है।

इसी भूमिका पर नयी कविता का जन्म हुआ। उसके कवि ने रति को वही अकुंठ रूप देने का प्रयास किया, जो वाल्मीकि और कालिदास में मिलता है, किन्तु एक ओर तो उसके बँधे-बँधाए रूप को (अर्थात् आकर्षण-बाधाएँ-विरह-मिलन की सीढ़ियों से अनिवार्यतः गुजरने वाली रति को) स्वीकार न कर उसमें वैयक्तिक विशिष्टता लाने का प्रयास किया और दूसरी ओर उसे महापुरुषों और महाराजाओं के स्तर से उतारकर साधन-हीन मध्यवर्ग के व्यक्ति में प्रतिष्ठित किया, और यथार्थ जीवन के धरातल पर उतारा। फ़िर छायावादियों की आकाशी वृत्ति को भी उसने स्वीकार नहीं किया और व्यक्तिवादी कवि की तरह जोर-जोर से रोना भी उसे गवारा नहीं हुआ। उसने प्रेम के लिए नदी-तट का कोई कुंज न चुनकर काफ़ी-हाउस चुना, प्रेम करने के लिए किसी वासकसज्जा मुग्धा या अज्ञात-यौवना को न चुनकर घर-गृहस्थी के काम में पिसने वाली मलिन-वस्त्रा नारी को चुना और मिलन या विरह के अवसर पर गा-गाकर या रो-रो कर पड़ोसिन की नींद खराव करने के स्थान पर संजीदगी के साथ उसे सहना या झेलना सीखा। उसने यह भी महसूस किया कि प्रेयसी हो जाने से ही कोई स्त्री अक्षतयौवना होने का वरदान प्राप्त नहीं कर लेती, उसे भी कालगति व्यापती है। वस्तुतः बात यह है कि जैसे ही जैसे चेतना का विकास हुआ है, मानव में उच्छल भाव-प्रवणता के स्थान पर बौद्धिक संयम

की ही गम्भीर गति आती गई है। पहले जब तक नारी स्वप्न-लोक की वस्तु न हो, उसके नख-शिख तीखे न हों, तब तक वह आकर्षण की वस्तु नहीं समझी जाती थी। फिर आकर्षण भी बड़ा तीव्र था। उसमें किशोर अवस्था का उद्दाम प्रवाह था, जो सम्पूर्ण चेतना को मथ देता था और उसकी अभिव्यक्ति भी उसी तरह उद्दाम थी। इसलिए प्राचीन कवियों में बड़ा रस-पूर्ण शृङ्गार मिलता था। जब तक नख-क्षतों से उरोज और जघन-युगल व्रण-युक्त न हो जायें, हार न टूट जाय, शय्या के फूल न कुम्हला जायें, नीवीबंध न खुल जाये, शृङ्गार-वर्णन पूरा नहीं होता था। इसी प्रकार मूर्च्छा, उन्माद, मरण आदि को दिखाये बिना विरह की अभिव्यक्ति भी नहीं हो पाती थी। आधुनिक युग में जहाँ हमारे लौकिक जीवन में इनकी अभिव्यक्तियों में संयम आया, नख-क्षत आदि का रिवाज वहशी समझा जाने लगा, और विरहानुभूति में बाहरी उन्माद और मूर्च्छा का स्थान अनेक प्रकार के जटिल मानसिक व्यापारों ने ले लिया, काव्य में भी उसका रूप बदला। द्विवेदी युग से नयी कविता तक हम यौनाकर्षण के वर्षा-जल को थिराते हुए पाते हैं।

कहने का तात्पर्य यह कि नयी कविता में यौनाकर्षण बौद्धिक जटि-लता वाले विशुद्ध मानव का यौनाकर्षण है, जो न उसके सहज रूप को किन्हीं आध्यात्मिक शिखरों पर प्रतिष्ठित करने का प्रयासी है और न किसी नैतिकता का आवरण ओढ़ने के लिए तैयार है, न तो नारी को नरक का द्वार मानता है, न स्वर्ग की अप्सरा। नारी उसकी जीवन-संगिनी है, जो जिन्दगी में उसके साथ-साथ खटती और पिसती है, जिसका साथ होना उसे अच्छा लगता है और जिसका दूर होना उसमें एक उदासी भर देता है। जिसका सहज सुन्दर रूप उसे लुभाता है और भोग के लिए आमंत्रित करना है। वह भोग एक सहज प्रवृत्ति है, वह तन और मन दोनों को प्रभावित करता है और विरह काल में अपनी स्मृतियों को जगाकर मन में एक हल्का सूनापन भर देता है। कुछ उदाहरण देखें—

(१) मांसलता की अकुंठ अभिव्यक्ति, नये सन्दर्भों में—

नंगी धूप चूमते पुष्ट वक्ष
दूधिया बाँहें रसती केसर-फूल
चौड़े कर्पूरी कूल्हों से दबती
सोफे की एसबर्गी चादर
रेशम जाँघों से उकसीं
टाँगों की चंदन डालें।

(श्याम परमार)

(२) यौनाकर्षण की अकुंठ अभिव्यक्ति का साहस—

(क) इन फिरोजी होठों पर बरबाद मेरी जिन्दगी।

× × ×

तुम्हारे स्पर्श की बादल-घुली कचनार नरमाई
तुम्हारे वक्ष की जादूभरी मदहोश गरमाई
तुम्हारी चितवनों में नरगिसों की पाँत शरमाई
किसी भी मोल पर मैं आज अपने को लुटा सकता।

(धर्मवीर भारती)

(ख) आज मुख्य मेहमान तुम,
रात के इस फ्लोर शो में
एक बार बस एक बार,
अपने तन की छाप छोड़ जाओ मुझ पर।

(शान्ता सिन्हा)

(३) यौनाकर्षण में बाधक नैतिकता को चुनौती—

अगर मैंने किसी के होंठ के पाटल कभी चूमे
अगर मैंने किसी के नयन के बादल कभी चूमे
महज इससे किसी का प्यार मुझ पर पाप कैसे हो?
महज इससे किसी का स्वर्ग मुझ पर शाप कैसे हो?

(धर्मवीर भारती)

(४) वैयक्तिक विशिष्टता—

आज अचानक सूनी सी संध्या में
जब मैं यों ही मैले कपड़े देख रहा था
किसी काम में जी बहलाने
एक सिल्क के कुर्ते की सिलवट में लिपटा
गिरा रेशमी चूड़ी का छोटा सा टुकड़ा
उन गोरी कलाइयों में जो तुम पहने थीं
रंग-भरी उस मिलन रात में।

(गिरिजाकुमार माथुर)

(५) ग्रभावों के बीच घुटते मध्यवर्ग के प्रेम की रूमानियत से रहित ग्रभिव्यक्ति—

हल्दी से सनी साड़ी ठीक कर सर ढक लो सौंपता हूँ
आटे से भरे हाथ धो लो, आओ....
यह थाती है, तीस दिन तपने की
मुन्ना का दूध, मुन्नी का फ्राक
और तुम्हारी टिकुली की
कसक से घुटने की।

(मलयज)

(६) मिलन की संजीदगी—

(क) कि मैं उसे केवल हलके से
ग्रपने पास खींच लेना चाहता हूँ
हलके से कह देना चाहता हूँ
बस तू मुझे याद रखना, बस।

(ख) रहता तो सब कुछ वही है,
ये पर्दे, ये खिड़की, ये गमले
बदलता तो किंचित नहीं है
लेकिन क्या होता है

कभी कभी :
फूलों में रंग उभर आते हैं
मेजपोश कुशनों पर कटे हुए
चित्र सभी बरबस मुस्काते हैं
× × ×
अनजाने होठों पर गीत आ जाता है।

(कीर्ति चौधरी)

(७) विरह की मौन संयमित अभिव्यक्ति—

(क) कल आँगन में से उखाड़कर एक छोटी मूली
ले आया शाम के नाश्ते पर रामू
अभी अज्जू थी, तीखी न हुई थी,
पर आँखें भर आई
× × ×
अभी तो मेरी छुट्टी के पैंतीस दिन हैं
अगर दो दिन छुट्टी लेकर लिवाने चला जाऊँ तो तेंतीस
आज तो बीत ही चला, बत्तीस समझो
कल दिन भर व्यस्त रहूँगा तो इकतीस
गोया, एक मास, तीस रोज

(मदन वात्स्यायन)

(ख) मैं कभी-कभी कमरे के कोने में जाकर
एकान्त जहाँ पर होता है,
चुपके से एक पुराना कागज पढ़ता हूँ
मेरे जीवन का विवरण उसमें लिखा हुआ
वह एक पुराना प्रेम पत्र है जो लिखकर
भेजा ही नहीं गया, जिसका पानेवाला,
काफी दिन बीते गुजर चुका।

(रघुवीर सहाय)

(८) प्रेयसी यथार्थ के धरातल पर—
मैं जिसे कि तुम
फूलों की मीनारों जैसी
ताजी सुन्दर सुकुमार सजलतन कहते थे
यदि आज मुझे तुम देखो तो
बेहद उदास हो जाओगे
मेरे बाइस मधु मासों को
ढक दिया किसी ने
मकड़ी के मटमैले भूरे जालों से।

(धर्मवीर भारती)

उपर्युक्त सभी उद्धरणों में जीवन के जो चित्र हैं, वे हमारे सबके लिए इतने स्वाभाविक हैं, और इतने परिचित हैं कि एकदम जीवन्त और ताज़ा लगते हैं। किन्तु स्वाभाविकता, परिचय और सहजता के बावजूद भी उनमें कलाकार के सावधान हाथों की चुनावपूर्ण सजावट दिखाई देती है। उनका कवि शब्द के संस्कार के प्रति सजग है और विभावों के चयन तथा आकर्षण भंगिमाओं के पूर्ण अनुभाव विधान के प्रति सावधान है। इसीलिए वे सफल कविताएँ हैं, अनुभूति के रस से सिक्त होकर रसास्वाद कराने में सहायक हैं। हल्दी से सनी साड़ी और आटे से सने हाथों के ही अनुभाव ले लीजिए। घर गृहस्थी के कामों की व्यस्तता में पिसती नारी का चित्र साकार हो उठता है। इसी प्रकार नाश्ते की मेज पर रखी हुई मूली को कवि ने इस हद तक काव्यात्मक संस्कारों से युक्त कर दिया है कि वह विरह के आँसुओं को उभारने में पूरी तरह समर्थ हो जाती है। वह पत्र जिसे एकांत में जाकर कवि पढ़ा करता है, उसका पाने वाला काफी दिन बीते गुजर चुका है—इस सपाटबयानी में ही कितनी वेदना ध्वनित हो रही है। असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि का इतना अलंकृत और इतना प्रभावशाली उदाहरण मिलना कठिन है। ये उद्धरण बड़े प्रयास के साथ ढूंढ़कर नहीं निकाले गये हैं। इस प्रकार के सहज भावों से सिक्त

शतशः उदाहरण नयी कविता से प्रस्तुत किए जा सकते हैं। अतः नयी कविता के कुछ प्रतिक्रियावादी दावेदार, जो उसके अभावुक होने का दंभ करते हैं, और उसके कुछ विरोधो आलोचक, जो उस पर भावुकता को अर्धचन्द्र देकर बाहर निकाल देने का आरोप करते हैं, दोनों ही भ्रम के शिकार हैं। इतना जरूर है कि उसकी भावुकता लघु मानव की विशिष्ट और यथार्थ भावुकता है, जिसकी उच्छलता बौद्धिक शरद की छाया में थिरा गई है।

भावुकता का एक रूप वह भी है, जब हम कहीं समर्पित हो जाना चाहते हैं, या अपने से किसी को कुछ बड़ा महसूस करना चाहते हैं, किसी के माथे पर झिलमिलाती पसीने की बूंदें पोंछ देना चाहते हैं। हो सकता है, यह निपट भावुकता और रूमानियत हो, किंतु जिंदगी की उतनी ही बड़ी हकीकत है जितनी बौद्धिकता है, घुटन है, तल्खी है। यह भी नहीं कह सकते कि उसका कोई ऐसा 'रोल' जिंदगी को बनाने में नहीं है, जिसके सहारे उसकी उपयोगिता आंकी जा सके, क्योंकि बहुत बार ऐसा होता है जब इस सब के बिना हम जीवित नहीं रह सकते। यही नहीं, संघर्षों से लड़ने के लिए और जीने के लिए हम वहाँ से शक्ति भी ग्रहण करते हैं। पूर्वाग्रहमुक्त नये कवि को हम इन भावनाओं में डूबते हुए भी देखते हैं—

(१) समर्पण की भावना—

फूल लाया हूँ कमल के
क्या करूँ इनका ?
पसारें आप आँचल
छोड़ दूँ
हो जाये जी हलका।

(भवानीप्रसाद मिश्र)

(२) किसी की महत्ता स्वीकार करना—

अहं से मेरे बड़ी हो तुम
× × ×

जहाँ रुक कर
फिर नयी मैं टेक गढ़ता हूँ।

× × ×

क्योंकि अन्तर में
अतल गहरे
आस्था के टूटते असहाय रथ के चक्र थामे
नित खड़ी हो तुम।

(सर्वेश्वर)

(३) किसी का दुख पोंछ देने की कामना—

अभी फुहियाँ पड़ रही हैं
तुम दुखी हो कहीं
दुःखों को बहा दो
पछैया के झकोरों में
मैं उन्हें आँचल में समेट लूँगी
और डूब जाऊँगी
उस वातावरण में।

(कु० राधा)

वास्तव में, हमारी समझ में तो, जीवन की विविध सहजता में जो जितनी ही गहराई के साथ डूब जाने की सामर्थ्य रखता है, वह उतना ही बड़ा कवि है। नये कवि में यह सामर्थ्य बहुधा इतनी अधिक पाई जाती है कि आश्चर्य होता है। वह बड़ी सहजता के साथ लोक-गीत की धुन में गा सकता है—

(१) यह डूबी-डूबी साँझ उदासी का आलम।
मैं बहुत अनमनी चले नहीं जाना बालम।

(सर्वेश्वर)

(२) दूज के चाँद सी आई, आई रे गोरी याद तेरी

(मदन वात्स्यायन)

और कभी व्यक्तिवादी गीत काव्यधारा के कवि की भाँति गाता है—

तुमने चूमे मेरे नयनों के स्वप्न कभी
अब तक इन बेबस आँखों में अरमान भरे।

(विजयदेव नारायण साही)

स्पस्ट है कि नया कवि खाने-बनाने में विश्वास नहीं करता। न वह किसी एक विशेष प्रकार की अनुभूति से प्रतिबद्ध होकर रहने का विश्वासी है और न किसी भावना विशेष से उसे नफरत है इसीलिए वह जीवन के व्यापक विस्तृत क्षेत्र में घूमता है, रमता है, गहराइयों में उतरता है और वहाँ से जीवन का रस खींच लाता है। उसकी दृष्टि सब जगह जाती है, और जो भी वस्तु उसकी सूक्ष्म अनी से बिंध जाती है, उसके काव्य में स्थान पा जाती है। विषमता, दरिद्रता और सामाजिक कुरीतियों पर भी उसकी निगाह जाती है, किन्तु प्रगतिवादी कवि की तरह वह न तो किसी पार्टी का झंडाबरदार है, और न फैशन के कारण केवल बौद्धिक सहानुभूति दिखाने के लिए छूँछे बादल की तरह बरसने आया है, वह पहले कवि है, अतः शब्द-संस्कार और अनुभूति की वास्तविकता उसके लिए पहली शर्त है। इसीलिए उसके ये चित्र प्रगतिवादी कवि की अपेक्षा अधिक मार्मिक बन पड़े हैं।

ये ठंडे चूल्हे
बर्फीले
पीले बर्तन
क्षय से पीड़ित
घायल-पायल से सिल लोढ़े
अधजले तवे काले कुरूप
नंगे चिमटे
औंधे अम्बर की खाई सी
गहरी कढ़ाइयों की खनखन

(लक्ष्मीकान्त वर्मा)

इस कविता में केवल कुछ बर्तनों के पहले कुछ विशेषण लगाकर क्षय-ग्रस्त जीवन का मार्मिक चित्र प्रस्तुत करके कवि ने अपनी अद्भुत शक्ति का परिचय दिया है। यह शक्ति अनुभूति की गहनता से उद्बुद्ध तो होती ही है, शिल्प के प्रति जागरूकता की अपेक्षा भी रखती है।

इसी प्रकार सर्वेश्वर की 'चुपाई मारो दुलहिन मारा जाई कौआ' लोकगीत की तर्ज पर रची गई कविता में निम्नवर्गी नारी की विवशता का चित्र जिस मार्मिकता के साथ प्रस्तुत किया गया है, वह समस्त प्रगतिवादी काव्य में दुर्लभ है।

नये कवि में उत्साह का भी अभाव नहीं है। जीवन की विषम परिस्थितियों में भी उसका मनोबल उच्च है, वह मौत के आलम में भी जिन्दगी का एक गीत गाना चाहता है। उसके ऊपर यह आरोप मिथ्या है कि उसने पराजय का वरण किया है और मरण की स्थिति को स्वीकार किया है।

(१) नया प्रकाश चाहिए, नया प्रकाश चाहिए
पुकारती दिशा-दिशा
मिटे तृषा, मिटे निशा
बहुत हुआ उदासपन, हमें सुहास चाहिए।

(प्रभाकर माचवे)

(२) ओ महाप्रलय के बाद नये उगते शिखरो
है तुम्हें कसम इन ध्वस्त विन्ध्य मालाओं की
मत शीश झुकाना अपना

(विजयदेव नारायण साही)

जो लोग नये कवि पर आत्म-रति का आरोप लगाते हैं और उसे समाज के प्रति जागरूक नहीं मानते, उनके लिए दो उद्धरण प्रस्तुत हैं—

(१) इस दुःखी संसार में जितना
बने हम सुख लुटा दें
× × ×

दर्द की ज्वाला जगाएं
नेह-भीगे गीत गाएँ

(भवानीप्रसाद मिश्र)

(२) आदमी मर गया
कहते हैं वह आदमी नहीं था
कोई कवि था
....
....

× ×

मर गया सहज स्नेह भाव में
दर्द ही दर्द था
दर्द था तमाम
हृदय के दर्द पर
लगाता था पेनबाम
जिंदा ही मर गया
कवि अनाम।

(लक्ष्मीकान्त वर्मा)

लक्ष्मीकान्त की कविता में कवि का समाज के प्रति उपेक्षित दर्द कितनी विद्रूप मुस्कान के साथ उभरा है।

नयी कविता में प्रकृति भी अनेक रूपों में दिखाई देती है। शायद जब से कविता जन्मी है, प्रकृति कवि की सहचरी रही है। कवि उसका उपयोग भी 'पीर, बावर्ची, भिश्ती, खर'—सभी प्रकार से करता आया है। उसने उसे आलम्बन रूप से लिया है। उसके सौन्दर्य की पुनर्सृष्टि की है, उसे उद्दीपन के रूप में लिया है, उस पर अपनी भावनाओं का आरोपण किया है। किसी एक विशेष पृष्ठभूमि और वातावरण के निर्माण के लिए उसका सहारा लिया है। नया कवि भी इसका अपवाद नहीं है। गिरिजाकुमार माथुर की 'ढाक वनी' कविता प्रकृति का आलम्बन रूप से चित्रण करने

वाली प्रौढ़ रचना है। प्रकृति-चित्रण के लिए कवि कुछ उपमाओं का प्रयोग भी करता रहा है। वाल्मीकि को कोहरे से ढका चन्द्रमा निश्वासांध दर्पण की भाँति दृष्टिगत होता है, कालिदास को बेंत के वृक्षों से घिरी गम्भीरा नदी विवृतजघना नारी की भाँति लगती है, प्रसाद को उषा अम्बर पनघट पर जल भरने वाली नागरी के समान दिखाई देती है, निराला को संध्या सुन्दरी परी की तरह धीरे-धीरे उतरती प्रतीत होती है। इसी परम्परा में नये कवि धर्मवीर भारती के पास संध्या एक लड़की की तरह पास आकर बैठ जाती है—

नींद भरी तरलायित, बड़री कटावदार आँखें मूँद
शाम—
एक सफर में थकी हुई लड़की सी
आई और मेरे पास बैठ गई।

स्पष्ट ही इस कविता में प्रकृति को युगीन यथार्थ के साथ जोड़ने का प्रयास है। इससे भी अधिक प्रकृति को युगीन सन्दर्भों के साथ जोड़ने का प्रयास निम्नलिखित कविताओं में दिखाई देता है—

(१) चिमनियों की गंध में डूबा शहर
शाम थककर आ रही है कारखाने से।

(श्रीकान्त वर्मा)

(२) एक अदृश्य टाइपराइटर पर साफ सुथरे कागज सा
चढ़ता हुआ दिन,
तेजी से छपते मकान, घर, मनुष्य
और पूंछ हिला गली से बाहर आता कोई कुत्ता।
× × ×
जलाशय पर अचानक छप जाता है
मछुए का जाल।
चरकट के कोठे से उतरती है धूप
और चढ़ता है दलाल

एक चिड़चिड़ा थका क्लर्क उबकर
छपे हुए शहर को छोड़ चला जाता है।

(श्रीकान्त वर्मा)

इन कविताओं में प्रकृति को व्याज मानकर कवि ने अपने युग की संवेदना को मुखरित किया है। कविता के इतिहास में जब-जब कवि ने अपनी नई राह बनानी चाही है और अनुभूतियों की गहराई में जाने का प्रयास किया है, उपमान और प्रतीक भी बदले हैं, और बदले ही नहीं हैं, वे कवि के आस-पास बिखरी हुई वस्तुओं में से लिये गये हैं। इसके लिए यह इलजाम नहीं लगाया जा सकता कि कवि उन वस्तुओं को चुनता है, जो कविता की कोमल प्रकृति के अनुकूल नही हैं या प्रकृति की सुकुमार गोद से सामग्री न चुनकर वह औद्योगिक जीवन की कुरूपता और कठोरता को ग्रहण करता है, और इस प्रकार काव्य को रसहीन बनाता है। कुम्हार की चाक, जुलाहे का कर्घा, रथ का चक्र, लोहार की धौंकनी भी न जाने कविता में कब से प्रयुक्त होते आ रहे हैं, वे अपने आप में कोई सुन्दर वस्तुएँ भी नहीं हैं, किन्तु कबीर का 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' पद सुन्दर नहीं है, ऐसा कोई असहृदय ही कहेगा। इसी प्रकार मिल की चिमनियों का धुआँ, रेलगाड़ी और उसकी पटरियाँ, टाइपराइटर और उस पर चढ़ा कागज भी अपने आप में असुन्दर और नीरस होते हुए भी कवि की यथार्थ अनुभूति से सिक्त होकर और उसकी संवेदना में डूबकर रसमय हो उठते हैं। इतना ही नहीं, काव्य में इन सबको ग्रहण करने की प्रवृत्ति कवि के अन्तस्थ तनाव की असाधारणता की सूचना भी देती है। नया कवि, जो नए उपमानों के लिए अपने आस-पास ही भटका-भटका फिरता है, इसके पीछे वही आकुलता और आतुरता है, जिसने कबीर को कर्घे के पास ला खड़ा किया था।

प्राचीन कवियों ने प्रकृति को लेकर तरह-तरह की बन्दिशें बाँधी हैं, चाँद-सूरज को महाकवि माघ ने रैवतक पर्वत रूपी हाथी पर टँगे हुए घंटों के रूप में देखा है। किसी कवि को सुबह-सुबह कौए इसलिए काँव-काँव

करते दिखाई देते हैं कि सूर्य उनके कालेपन के कारण उन्हें भी अंधकार समझकर नष्ट न कर दे। नये कवि में भी यह क्रीड़ा-वृत्ति कभी-कभी अपनी सहजता में उभरती दिखाई देती है। कुछ उदाहरण देखिए—

(१) पति सेवा-रत साँझ
उझकता देख पराया चाँद
लजाकर ओट हो गयी।

(अज्ञेय)

(२) मोती के सौदागर नभ की
× × × स्वस्थ युवा अनब्याही बेटी
उषा कुमारी
× × ×
इक्केवाले सूरज के संग हिरन हो गयी
हवा हो गयी।
सुना आपने ?

(रामविलास शर्मा)

निष्कर्ष के रूप में हम यह कहकर अपनी बात समाप्त करेंगे कि नयी कविता कोई आकाश से गिरी हुई चीज नहीं है, न वह कोई अघट घटना है और न हमारे अनुभूति-जगत् से कटी हुई चीज है। वह तो सहज मानव को युगीन सन्दर्भों में रखकर सजग कलाकार द्वारा की गई एक सृष्टि है, जो अभी अपना विकास-पथ खोज रही है। ऊपर जो विवेचन दिया गया है उसमें नयी कविता के उन असंख्य घरौंदों का मूल्यांकन नहीं है, जो असफल सृष्टि के रूप में यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं और जिनको देख कर ही बहुधा लोग नयी कविता की संभावनाओं की चर्चा करने लगते हैं, और फिर उसके बारे में तरह-तरह की शंकाएँ करने लगते हैं। ऐसी रचनाओं में अपरिपक्व जीवन दृष्टि और अकुशल हाथों के कलात्मक प्रयासों का भोंड़ापन मिल सकता है, किन्तु हमें नयी कविता का मूल्यांकन उसके आधार पर नहीं करना है। कुछ प्रतिक्रियावादी रचनाओं के आधार

पर भी नयी कविता का मूल्यांकन नहीं करना है। और जब हम यह सारा गर्द-ओ-गुबार हटाकर नयी कविता को देखते हैं तो पाते हैं कि न तो वह इस हद तक बौद्धिक है कि कविता न बन सके (बल्कि कहना तो यह चाहिए कि उनमें बौद्धिकता की गाँठ अनुभूतियों की आँच में पिघलकर रसमयी बन गई है और इस दृष्टि से वह ठेठ कबीर और तुलसी की, भारतेन्दु और निराला की परम्परा में है)—और न वह इस हद तक भावुकता से नफरत करती है कि जीवन के एक महत्वपूर्ण पक्ष की संवेदना को ही नष्ट कर दे। वहाँ तो कुछ है, सब जीवन के लिए ही है और इसलिए उसकी संभावनाएँ अनन्त हैं। अन्त में हम नयी कविता के सर्वाधिक स्वीकृत कवि मुक्तिबोध की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करते हुए अपनी बात समाप्त करेंगे—

नहीं होती, कहीं भी खतम कविता नहीं होती
वह आवेग-त्वरित काल-यात्री है।
व मैं उसका नहीं कर्ता
पिता-धाता
कि वह कभी दुहिता नहीं होती
परम स्वाधीन है वह विश्व-शास्त्री है।
गहन गंभीर छाया आगमिष्यत की
लिये, वह जन चरित्री है।
नये अनुभव व संवेदन
नये अध्याय प्रकरण जुड़
तुम्हारे कारणों से जगमगाती है
वह मेरे कारणों से सकुच जाती है
कि मैं अपनी अधूरी बीड़ियाँ सुलगा;
खयाली सीढ़ियाँ चढ़कर
पहुँचता हूँ निखरते चाँद के तल पर,
अचानक विकल होकर तब मुझी से लिपट जाती है

● ●

अज्ञेय

•

अज्ञेय | एक परिचय

(सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय', जन्म १९११ ई०)

प्रकृति से ही यायावर अज्ञेय के लिए अन्वेषण ही आस्था है—एक प्रखर अतृप्ति का अनुभव, एक अमिट प्यास से जलता हुआ हृदय लिये किसी खोज में अज्ञात अनन्त दिशाओं में भटकते रहना ही उनका जीवन-दर्शन है। इसीलिए प्रव्रज्या का व्रत लिये हुए अपने समकालीन प्रयोग-धर्मा कवियों को एक-सूत्र में बांधकर 'तार-सप्तक' के रूप में प्रकाशित करने का और इस प्रकार काव्य-परंपरा के प्रवाह को नया मोड़ देने में भगीरथ बनने का श्रेय उन्हें प्राप्त है।

अज्ञेयजी ने जब कविता की भूमि पर कदम रखा, एक ओर तो छायावाद का लाजवंती-सा छुईमुई रूप था, जिसे जीवन की धूप बर्दाश्त नहीं होती थी, दूसरी ओर प्रगतिवाद की कड़ी चट्टान थी, जिस पर फल नहीं उगाए जा सकते थे, और तीसरी ओर व्यक्तिवादी गीति-काव्यधारा थी, जिसमें प्रेम और तज्जनित निराशा की बड़ी आवेगमयी अभिव्यक्ति थी, तो चौथी ओर राष्ट्रीय और सांस्कृतिक भावनाओं को उदात्त शिखरों पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास था। इन सब काव्यधाराओं में से किसी में मध्य-वर्ग के संघर्षरत मानव की संवेदनात्मक जटिलताओं को बौद्धिक संयम के साथ कलात्मक सावधानी से सृष्ट करने का प्रयास नहीं दिखाई देता था। अज्ञेय ने इस दिशा में प्रयोग करने की आवश्यकता समझी; और यद्यपि वे स्वयं तो इसमें पूरी तरह सफल नहीं हो सके किन्तु अनेक कवि जो अपने प्रातिभ आलोक के साथ उस दिशा में बढ़े, उनकी उप-लब्धियाँ बहुत कुछ रहीं, तो इसका बहुत कुछ श्रेय अज्ञेय को भी है।

यद्यपि अज्ञेयजी जितने सफल और सशक्त कथाकार हैं, उतने सफल

और सशक्त कवि नहीं, (कविता में उनकी प्रतिभा कुछ लजाती हुई-सी आती दिखाई देती है) फिर भी उनकी कुछ कविताएँ श्रेष्ठ काव्य के रूप में प्रस्तुत की जा सकती हैं।

उनकी कविता एक व्यक्तिनिष्ठ कवि की कविता है। वे अपने जीवन में उग्र क्रान्तिकारी रहे हैं; स्वतंत्रता आन्दोलन में कारावास का दण्ड भी उन्होंने कम नहीं भोगा है। किन्तु उनके काव्य की दुनिया में आप यह सब कुछ नहीं पायेंगे—वहाँ नारी के प्रति तीव्र आकर्षण में आबद्ध और समर्पित पुरुष मिलेगा, हरी घास पर थोड़ी देर बैठकर शान्ति का अनुभव करता हुआ व्यक्ति मिलेगा, एकांत रजनी में बरसती हुई चाँदनी मिलेगी (कभी-कभी उस चाँदनी में मूत्र-सिंचित मृत्तिका से वृत्त पर खड़ा धैर्यघन गदहा मिल जाय तो चौंकिएगा नहीं, क्योंकि वह केवल छायावादी कुहासे को भेदने के लिए प्रतिक्रिया के रूप में ही आया है, उसे अज्ञेय की काव्य-प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता), तो कभी भूमि के कंपित उरोजों पर झुका हुआ इन्द्र का नील वक्ष। अज्ञेय के कवि का वास्तविक और सफल रूप आपको यहीं मिलेगा, और यदि असफल रूप देखना हो तो वहाँ देखिए, जहाँ वे सामाजिक समस्याओं से उलझने का प्रयास करते हैं, या जहाँ रहस्य के आकाश में उड़ने की कोशिश करते हैं। पहले के उदाहरण के रूप में 'शोषक-भैया' जैसी कविताएँ ली जा सकती हैं, और दूसरे में 'आँगन के पार द्वार' की अधिकांश रचनाएँ। अज्ञेयजी सबसे अधिक महत्त्व जिस बात को देते हैं, वह है शब्द की अर्थवत्ता की सर्जनात्मक खोज, और वह खोज भी इस प्रकार कि पाठक के लिए दुरूह न हो। किन्तु ये दोनों प्रकार की रचनाएँ उनकी इस कसौटी पर खरी नहीं उतरतीं; पहले प्रकार की रचनाओं में यह खोज ही सही स्तर पर नहीं हुई है तो दूसरे में वह दुरूह बन गई है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि सामाजिक और रहस्यात्मक संदर्भों में लिखी गई उनकी सारी कविताएँ ही असफल हैं। निस्सन्देह कुछ अपवाद अवश्य मिलते हैं। उदाहरण के लिए 'साँप' शीर्षक कविता में नगरों के

प्रति व्यंग्य अपने तीखेपन के साथ उभरा है।

अज्ञेय की कविता का एक और धरातल है, जहाँ उनकी असफलता और शक्ति देखी जा सकती है, और वह है विचारों की अनुभूत्यात्मक सृष्टि। वे विचारों को कुछ ऐसी भाषा में, कुछ ऐसे प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त करते हैं कि वे शुल्क नीरस विचार न रहकर अनुभूति के रस में पग जाते हैं और एक मार्मिक प्रभाव छोड़ते हैं। उदाहरण के लिए जिजीविषा की धारणा को व्यक्त करने के लिए उन्होंने मछली का प्रतीक लिया है और 'सोन मछली', 'मछलियाँ', 'जीवन छाया', 'टेर रहा सागर' तथा 'बना दे, चितेरे' आदि कवितायों में उसकी आकुल-तड़प के माध्यम से जिजीविषा की तड़प को व्यक्त किया है। कभी-कभी विचारों की अभिव्यक्ति बिना प्रतीकों के ही मात्र शब्दों के एक सपाट योजन के द्वारा भी बड़ी प्रभावपूर्ण बन जाती है, जैसे इन पंक्तियों में—

सत्य का सुरभिपूत स्पर्श हमें मिल जाय
क्षण भर :
एक क्षण उसके आलोक से संपृक्त हो
विभोर हम हो सकें
और हम जीना नहीं चाहते।

एक क्षण की समूची की समूची अनुभूति को आकुल-आतुर अंजलि में भरकर पी लेने की यह छटपटाहट अज्ञेय के रहस्यवाद की एक विशेषता भी है, जो उसे पूर्ण, अनंत और अपरिवर्तमान तत्त्व को खोजने वाले प्राचीन रहस्यवाद से अलग करती है और साथ ही जो उनके काव्य की प्रेरक शक्ति भी है। ● ●

वसन्त-गीत

मलय का झोंका बुला गया :
खेलने से स्पर्श से
वो रोम-रोम को कँपा गया—
जागो, जागो,
जागो; सखि, वसन्त आ गया ! जागो ।
पीपल की सूखी खाल स्निग्ध हो चली,
सिरिस ने रेशम से वेणी बाँध ली,
नीम के भी बौर में मिठास देख
हँस उठी है कचनार की कली !
टेसुओं की आरती सजा के
बन गई वधू वनस्थली !
स्नेह-भरे बादलों से
व्योम छा गया—
जागो, जागो,
जागो, सखि बसन्त आ गया ! जागो ।

चेत उठी ढीली देह में लहू की धार,
बेध गयी मानस को दूर की पुकार
गूँज उठा दिग्दिगन्त
चीन्ह के दुरन्त यह स्वर बार-बार :
'सुनो सखि ! सुनो बन्धु !
प्यार ही में यौवन है यौवन में प्यार !'

आज मधु-दूत निज
 गीत गा गया—
जागो, जागो,
जागो सखि, वसन्त आ गया ! जागो !

●

उड़ चल, हारिल

उड़ चल हारिल, लिये हाथ में
यही अकेला ओछा तिनका—
ऊषा जाग उठी प्राची में
कैसी बाट भरोसा किन का !

शक्ति रहे तेरे हाथों में—
छूट न जाय यह चाह सृजन की;
शक्ति रहे तेरे हाथों में—
रुक न जाय यह गति जीवन की

ऊपर—ऊपर—ऊपर—ऊपर—
बढ़ा चीरता चल दिङ्मंडल :
अनथक पंखों की चोटों से
नभ में एक मचा दे हलचल :

तिनका ? तेरे हाथों में है
अमर एक रचना का साधन—
तिनका ? तेरे पंजे में है
विधना के प्राणों का स्पन्दन !

काँप न, यद्यपि दसों दिशा में
तुझे शून्य नभ घेर रहा है,
रुक न, यदपि उपहास जगत् का
तुझ को पथ से हेर रहा है;

तू मिट्टी का किन्तु आज
मिट्टी को तूने बाँध लिया है,
तू था सृष्टि, किन्तु स्रष्टा का
गुर तूने पहचान लिया है !

मिट्टी निश्चय है यथार्थ, पर
क्या जीवन केवल मिट्टी है ?
तू मिट्टी, पर मिट्टी से उठने
की इच्छा किसने दी है !

आज उसी ऊर्ध्वंग ज्वाला का
तू है दुर्निवार हरकारा
दृढ़ ध्वज-दंड बना यह तिनका
सूने पथ का एक सहारा।

मिट्टी से जो छीन लिया है
वह तज देना धर्म नहीं है,
जीवन-साधन की अवहेलना
कर्मवीर का कर्म नहीं है !

तिनका पथ की धूल, स्वयं तू
है अनन्त की पावन धूली
किन्तु आज तू ने नभ-पथ में
क्षण में बद्ध अमरता छू ली !

ऊषा जाग उठी प्राची में—
आवाहन यह नूतन दिन का :
उड़ चल, हारिल, लिये हाथ में
एक अकेला पावन तिनका !

●

सावन-मेघ

१

घिर गया नभ, उमड़ आये मेघ काले,
भूमि के कम्पित उरोजों पर झुका-सा
विशद, श्वासाहत, चिरातुर
छा गया इन्द्र का नील वक्ष—
वज्र सा, यदि तड़ित से झुलसा हुआ सा।

आह मेरा श्वास है उत्तप्त—
धमनियों में उमड़ आयी है लहू की धार
प्यार है अभिशप्त—
तुम कहाँ हो, नारि ?

२

मेघ-आकुल गगन को मैं देखता था
बन विरह के लक्षणों की मूर्ति—
सूक्ति की फिर नायिकाएँ
शास्त्र-संगत प्रेम-क्रीड़ाएँ
घुमड़ती थीं, बादलों में
आर्द्र, कच्ची वासना के धूम-सी।

जब कि सहसा तड़ित के आघात से चिरकर
फूट निकला स्वर्ग का आलोक
बाध्य देखा :

स्नेह से आलिप्त
बीज के भवितव्य से उत्फुल्ल
बद्ध—
वासना के पंक-सी फैली हुई थी
धारयित्री सत्य-सी निर्लज्ज, नंगी
औ' समर्पित !

जागर

पूर्णिमा की चाँदनी
सोने नहीं देती।
चेतना अन्तर्मुखो स्मृति-लीन होती है,
देह भी पर सजग है—
खोने नहीं देती।
निशा के उर में बसे आलोक-सी है व्यथा-व्यापी–
प्यार में अभिमान की पर कसक हा
रोने नहीं देती।
पूर्णिमा की चाँदनी
सोने नहीं देती।

●

कल की निशि

मिथ्या, कल मिथ्या :
कल की निशि घनसार तमिस्रा
और अकेली होगी—
स्मृति की सूखी स्रजा रुआँसी
एह सहेली होगी।
चरम द्वन्द्व—आत्मा निःसम्बल,
अरि गोपित मायावी—
प्यार ? प्यार ! अस्तित्व-मात्र
अनबूझ पहेली होगी।

•

सागर के किनारे

तनिक ठहरूँ। चाँद उग आये,
तभी जाऊँगा वहाँ नीचे
कसमसाते रुद्र सागर के किनारे।
चाँद उग आये।

न उसकी
बुझी फीकी चाँदनी में दिखे शायद
वे दहकते लाल गुच्छ बुरुँस के जो
तुम हो।
न शायद चेत हो, मैं हूँ वह डगर
गीली दूब से मेदुर
मोड़ पर जिसके नदी का कूल है, जल है,
मोड़ के भीतर—घिरे हों बाँह में ज्यों—
गुच्छ लाल बुरुँस के उत्फुल्ल।

न आये याद, मैं हूँ।
किसी बीते साल के सीले कलेंडर की
एक बस तारीख, जो हर साल आती है।
एक बस तारीख—अंकों में लिखी ही जो न जावे
जिसे केवल चन्द्रमा का चिन्ह ही बस करे सूचित
बंक—आया—शून्य,
उलटा बंक—काला वृत्त
यथा पूनो—तीन-तेरस—सप्तमी,

निर्जला एकादशी—
या अमावस्या।

अँधेरे में ज्वार ललकेगा
व्यथा जागेगी। न जाने दीख क्या जावे
जिसे आलोक फीका सोख लेता है।

तनिक ठहरूँ। कसमसाते रुद्ध सागर के किनारे
तभी जाऊँ वहाँ नीचे—
चाँद उग आये।

नन्हीं शिखा

जब
झपक जाती हैं थकी पलकें
जम्हाई-सी स्फीत लम्बी रात में
सिमट कर भीतर कहीं पर
संचयित कितने न जाने युग-क्षणों की
राग की अनुभूतियों के सार को आकार देकर,
मुग्ध मेरी चेतना के द्वार से तब
निःसृत होती है अयानी
एक नन्हीं-सी शिखा

काँपती भी नहीं निद्रा
किन्तु मानों चेतना पर किसी संज्ञा का
अनवरत सूक्ष्मतम स्पन्दन
जता देता है मुझे,
नर्तिता अपवर्ग की अप्सरा-सी वह
शिखा मेरा भाल छूती है,
नेत्र छूती है,
वक्त्र छूती है,
गात्र को परिक्रान्त करके
ठिठक छिन-भर
उमग कौतुक से
बोध को ही आँज जाती है किसी
एकान्त अपने

दीप्त रस से।
और तब संकल्प मेरा
द्रवित, आहुत,
स्नेह-सा उत्कृष्ट होता है
शिखा के प्रति
धीर, संशय-हीन, चिन्तातीत !
वह चाहे जला डाले।
(यद्यपि वह तो वासना का धर्म है--
और यह नन्हीं शिखा तो
अनकहा मेरे हृदय का प्यार है !)

कलगी बाजरे की

हरी बिछली घास।
दोलती कलगी छरहरी बाजरे की।

अगर मैं तुमको
ललाती साँझ के नभ की अकेली तारिका
अब नहीं कहता,
या शरद के भोर की नीहार-न्हायी कुंई,
टटकी कली चम्पे की
वगैरह, तो
नहीं कारण कि मेरा हृदय उथला या कि सूना है
या कि मेरा प्यार मैला है।
बल्कि केवल यही:
ये उपनाम मैले हो गये हैं।
देवता इन प्रतीकों के कर गये हैं कूच।
कभी बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है।
मगर क्या तुम
नहीं पहचान पाओगी:
तुम्हारे रूप के—
तुम हो, निकट हो, इसी जादू के—
निजी किस सहज, गहरे बोध से,
किस प्यार से मैं कह रहा हूँ—
अगर मैं यह कहूँ,—
बिछली घास हो तुम

लहलहाती हवा में कलगी छरहरी बाजरे की
आज हम शहरातियों को
पालतू मालंच पर सँवरी जुही के फूल से
सृष्टि के विस्तार का—ऐश्वर्य का—
औदार्य का—
कहीं सच्चा, कहीं प्यारा
एक प्रतीक
बिछली घास है,
या शरद की साँझ के सूने गगन की पीठिका पर
दोलती कलगी अकेली
बाजरे की।
ओर सचमुच, इन्हें जब-जब देखता हूँ
यह खुला वीरान संसृति का घना हो सिमट आता है—
और मैं एकान्त होता हूँ

समर्पित
सब जादू हैं—
मगर क्या यह समर्पण कुछ नहीं है ?

नख-शिख

तुम्हारी देह
मुझ को कनक-चम्पे की कली है
दूर ही से
स्मरण में भी गन्ध देती है।
(रूप स्पर्शातीत वह जिसकी लुनाई
कुहासे-सी चेतना को मोह ले)

तुम्हारे नैन
पहले भोर की दो ओस-बूँदें हैं
अछूती, ज्योतिमय,
भीतर द्रवित।
(मानो विधाता के हृदय में
जग गई हो भाप करुणा की अपरिमित।)

तुम्हारे ओठ—
पर उस दहकते दाड़िम-पुहुप को
मूक तकता रह सकूँ मैं—
(सह सकूँ मैं—
ताप ऊष्मा का मुझे जो लील लेती है!)

●

देह-बल्ली

देह—
बल्ली।

रूप को
एक बार बेझिझक देख लो।
पिंजरा है ? पर मन इसी में से उपजा।
जिसकी उन्नीत शक्ति आत्मा है।
देखो देह—
बल्ली।
भव्य बीज रूपाकारों का :
'निर्गन्धा इव किंशुका:'
गन्ध के उपभोक्ता किन्तु कहें तो
कब हम वसन्त के उन्मेष को
नहीं उस एक संकेत से पहचान सके ?
कब वह नहीं हुआ
जीवन के चिरन्तन
स्वयम्भाव का प्रतीक ?
देखो
व्रीडाहीन : इस कान्ति को
आँखों में समेट लो
देखो
रूप—
नाम-हीन

एक ज्योति
अस्मिता इयत्ता की
ज्वाला
अपराजिता अनावृता ।

चाँदनी जी लो

शरद चाँदनी
बरसी
अँजुरी भरकर पीलो
ऊँघ रहे हैं तारे
सिहरी सरसी
ओ प्रिय कुमुद ताकते
अनझिप
क्षण में
तुम भी जी लो।
सोच रही है ओस
हमारे गाने
घने कुहासे में
झिपते
चेहरे पहचान
खम्भों पर बत्तियाँ
खड़ी हैं सीठी
ठिठक गये हैं मानो
पल-छिन
आने-जाने।
उठी ललक
हिय उमँगा
अनकहनी
अलसानी

जगी लालसा
मोठी,
खड़े रहो ढिग
गहो हाथ
पाहुन मनमाने,
ओ प्रिय रहो साथ,
भर-भरकर अँजुरी
पी लो
बरसी
शरद चाँदनी
मेरा
अन्तः स्पन्दन
तुम भी क्षण-क्षण जी लो !

●

यह दीप अकेला

यह दीप, अकेला, स्नेह-भरा
है गर्व-भरा मदमाता, पर
इसको भी पंक्ति को दे दो।
यह जन है : गाता गीत जिन्हें फिर और कौन गायेगा ?
पनडुब्बा : ये मोती सच्चे फिर कौन कृती लायेगा ?
यह समिधा : ऐसी आग हठीली बिरला सुलगायेगा।
यह अद्वितीय : यह मेरा : यह मैं स्वयं विसर्जित :
यह दीप अकेला, स्नेह भरा
है गर्व भरा मदमाता, पर
इसको भी पंक्ति को दे दो।

यह मधु है : स्वयं काल की मौना का युग-संचय,
यह गोरस : जीवन-कामधेनु का अमृत-पूत पय,
यह अंकुर : फोड़ धरा को, रवि को तकता निर्भय,
यह प्रकृत, स्वयम्भू, ब्रह्म, अयुत :
इसको भी शक्ति दे दो।
यह दीप, अकेला, स्नेह-भरा
है गर्व-भरा मदमाता; पर
इसको भी पंक्ति को दे दो।

यह वह विश्वास नहीं, जो अपनी लघुता में भी काँपा
वो पीड़ा, जिसकी गहराई को स्वयं उसी ने नापा,
कुत्सा, अपमान, अवज्ञा के धुँधुआते कड़ुवे तम में

यह सदा-द्रवित, चिर जागरूक, अनुरक्त-नेत्र,
उल्लम्ब-बाहु, यह चिर-अखंड अपनापा।
जिज्ञासु, प्रबुद्ध, सदा श्रद्धामय
इसको पंक्ति को दे दो :

यह दीप, अकेला, स्नेह भरा
है गर्व-भरा मदमाता, पर
इसको भी पंक्ति को दे दो।

बना दे, चितेरे

बना दे, चितेरे,
मेरे लिए एक चित्र बना दे।

पहले सागर आँक :
विस्तीर्ण, प्रगाढ़ नीला,
ऊपर हलचल से भरा,
पवन के थपेड़ों से आहत,
शत-शत तरंगों से उद्वेलित,
फेनोर्मियों से टूटा हुआ, किन्तु प्रत्येक टूटने में
अपार शोभा लिये हुए,
चंचल, उत्सृष्ट,
—जैसे जीवन !
हाँ, पहले सागर आँक :
नीचे अगाध, अथाह,
असंख्य दबावों, तनावों, खींचों और मरोड़ों को
अपनी द्रव एकरूपता में समेटे हुए,
असंख्य गतियों और प्रवाहों को
अपने अखंड शौर्य में समाहित किए हुए
स्वायत्त,
अचंचल,
—जैसे जीवन...
सागर आँक कर फिर आँक एक उछली हुई मछली :
ऊपर अधर में

जहाँ ऊपर भी अगाध नीलिमा है
तरंगोर्मियाँ हैं, हलचल और टूटन है,
द्रव है, दबाव है,
और उसे घेरे हुए वह अविकल सूक्ष्मता है
जिसमें सब आन्दोलन स्थिर और समाहित होते हैं,
ऊपर अधर में
हवा का एक बुलबुला-भर पीने को
उछली हुई मछली
जिसकी मरोड़ी हुई देह-बल्ली में
उसकी जिजीविषा की उत्कट आतुरता मुखर है।
जैसे तडिल्लता में दो बादलों के बीच के खिचाव सब
कौंध जाते हैं—
वज्र अनजाने, अप्रसूत, असन्धीत सब
गल जाते हैं।
उन प्राणों का एक बुलबुला-भर पी लेने को—
उस अनन्त नीलिमा पर छाये रहते ही
जिसमें वह जनमी है, जियी है, पली है, जियेगी,
उस दूसरी अनन्त प्रगाढ़ नीलिमा की ओर
बिद्युल्लता की कौंध की तरह
अपनी इयत्ता की सारी आकुल तड़प के साथ उछली हुई
एक अकेली मछली।

बना दे, चितेरे,
यह चित्र मेरे लिए आँक दे!
मिट्टी की बनी, पानी से सिंची, प्राणाकाश की प्यासी
उस अन्तहीत उदीपा को
तू अन्तहीन काल के फलक पर टाँक दे—

क्योंकि यह माँग मेरी, मेरी है कि प्राणों के
एक जिस बुलबुले की ओर मैं हुआ हूँ उदग्र, वह
अन्तहीन काल तक मुझे खींचता रहे
मैं उदग्र ही बना रहूँ कि
—जाने कब—
वह मुझे सोख ले।

मुक्तिबोध

•

मुक्तिबोध | एक परिचय

(गजानन माधव 'मुक्तिबोध', जन्म १९१७ ई०, मृत्यु १९६४ ई०)

"नयी कविता में मुक्तिबोध की स्थिति वही है, जो छायावाद में निराला की थी। निराला के समान ही मुक्तिबोध ने भी अपने युग के सामान्य काव्य-मूल्यों को प्रतिफलित करने के साथ ही उनकी सीमा को चुनौती देकर उस सर्जनात्मक विशिष्टता को चरितार्थ किया, जिससे समकालीन काव्य का सही मूल्यांकन संभव हो सका।"

(डॉ० नामवर सिंह)

"हिन्दी की नयी पीढ़ी का बिल्कुल अपना कवि, सबसे प्रिय कवि, और विचारक गजानन मुक्तिबोध ही है, यह निर्विवाद है। उसकी तुलना में किसी भी प्रकार और कोई नहीं ठहरता।"

(शमशेरबहादुर सिंह)

उपर्युक्त मत नयी कविता के देश के दो अत्यन्त प्रतिष्ठित नागरिकों के हैं। तो, प्रश्न उठता है कि मुक्तिबोध में ऐसा क्या है, जो उन्हें नव-काव्य के निर्माताओं में इतना महत्वपूर्ण स्थान देता है। हमारी समझ में मुक्तिबोध की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि जटिल संवेदनाओं की सर्जनात्मक सृष्टि करने के लिए शब्दार्थ के जंगलों में भटकने का सबसे अधिक खतरा उन्हीं ने उठाया है और इसीलिए संक्रान्ति के बिन्दु पर खड़े मानव का द्वन्द्व उनकी कविताओं में पूरी तरह उभर सका है। इस भटकाव में मुक्तिबोध की जो सबसे बड़ी उपलब्धि कही जा सकती है, वह है उनकी फैन्टेसियाँ। उनकी कविता में जासूसी उपन्यासों की तरह अथाह गहरे जल के भीतर दूर तक चली गई सीढ़ियाँ हैं, बीहड़ उजाड़ में बने हुए खूब ऊँचे-ऊँचे सुनसान ज़ीने हैं। मस्तिष्क के भीतर एक और मस्तिष्क है, उसके

भीतर भी एक और कक्ष है, कक्ष के भीतर एक गुप्त प्रकोष्ठ है, कोठे के साँवले गुहान्धकार में मजबूत सन्दूक है—और उस सन्दूक के भीतर बन्द है कोई यक्ष या ओरांग उटांग। है न पूरा तिलिस्मी ठाठ। अक्सर आप मुक्तिबोध को अपनी कविताओं के घने जंगलों में मद्धिम चाँदनी में, टीलों के बीच अधखुले रहस्यों के बीच घूमते हुए पायेंगे, जहाँ कि हवा भी जासूस कुत्तों की भाँति जमीन सूँघती हुई चलती है; अक्सर ऐसा होता है कि उन्हें तिलिस्मी खोह में गिरफ्तार कोई आवाज रात के घने अँधेरे में सुनाई देती है। मुक्तिबोध के मस्तिष्क की उर्वरता देखकर आश्चर्य होता है, जिसमें से शतशः सशक्त कल्पनाएँ अंकुरित होकर विशाल वट और घने उदुम्बरों के रूप में फैली हुई दिखाई देती हैं और अपनी टहनियों से अनेक गम्भीर संवेदनाओं और विचारों की ओर इंगित करती हैं। शायद ही कोई कविता हो, जिसमें फ़ैन्टेसी की सृष्टि किए बिना मुक्तिबोध ने अपनी जटिल अनुभूतियों को अभिव्यक्ति दी हो। युग ने कहा है कि कविता उगती है और यह उगना मुक्तिबोध की कविताओं में पूरी तरह देखा जा सकता है—इन फ़ैन्टैसियों के रूप में।

इन फ़ैन्टैसियों के निर्माण का मसाला कवि ने अधिकतर प्रकृति से ही लिया है और उसके लिए प्रकृति के रूढ़िगत रूप के स्थान पर नये आरोपणों द्वारा उसे एक ऐसा रूप दिया है, जो युग की जटिल संवेदनाओं को पूरी तरह अभिव्यक्त करता है। उसने चाँदनी में बैठकर सुई नहीं पिरोई है, न उसे खोटे सिक्के के समान देखा है। खिलवाड़ में उसका विश्वास नहीं है। चाँद का मुँह उसे टेढ़ा दिखाई देता है तो एक गम्भीर वेदना और संक्रान्ति-जनित संत्रास की अभिव्यक्ति के लिए, महज पुराने प्रतीकों को विकृत रूप देने के लिए नहीं, नये के लिए कुछ 'नया' कह देने के लिए नहीं। और साथ ही यह भी कि प्रकृति का यह टेढ़ा-मेढ़ा विकृत रूप उसके दर्शन का एक पक्ष है, उसका दूसरा पक्ष भी है, जहाँ ज्वालामुखियों के अतल में अवस्थित सूर्य झीलों में लाल पंखुरियों वाले कमल के फूल खिलते हैं। इस प्रकार मुक्तिबोध का कल्पनालोक बड़ा विशद है, जहाँ तम-प्रकाश का सामंजस्य पूर्ण मिलन है।

प्रकृति के अतिरिक्त पशु पक्षियों को भी मुक्तिबोध ने अपनी काव्य-सृष्टि के इंट-गारे के रूप में प्रयुक्त किया है। औरांग उटांग मनुष्य के वहशी 'इड' का प्रतीक है, रात के अँधेरे में गाँधी और तिलक की मूर्त्तियों पर बैठे हुए घुग्घू उन महापुरुषों के आदर्शों को गँदला बनाने वाले तत्व हैं, मणिधर सर्प तत्वान्वेषी कवि की बेचैनी का प्रतीक है।

अनेक जीवन-व्यापारों को भी कवि ने उपमानों के रूप में प्रयुक्त करके बड़ी मार्मिक सृष्टि की है, जैसे सुबह ही सुबह ज़िदगी की गलियों में घूमने वाला मौत का पठान, जो चुकारे में जीने का ब्याज माँगता है, आज के जीवन-संघर्ष की कटुता को प्रभावी रूप में अभिव्यक्त करता है। 'अँधेरे में' नामक कविता में अस्पताल में होने वाले मस्तिष्क के 'डिसेक्शन' का प्रतीक युगीन संत्रास का समर्थ वाहक है।

मुक्तिबोध की सृष्टि कहीं-कहीं अस्पष्ट भी हो गई है और ऐसा हो जाना स्वाभाविक भी था, क्योंकि वे पूरी तरह एक नये निर्माण का संकल्प लेकर चले थे, जिसका कोई नक्शा उनके पास पहले से वर्तमान नहीं था।

ब्रह्मराक्षस

शहर के उस ओर खँडहर की तरफ़
परित्यक्त सूनी बावड़ी
के भीतरी
ठण्डे अँधेरे में
बसी गहराइयाँ जल की....
सीढ़ियाँ डूबी अनेकों
उस पुराने घिरे पानी में....
समझ में आ न सकता हो
कि जैसे बात का आधार
लेकिन बात गहरी हो !

बावड़ी को घेर
डालें खूब उलझी हैं,
खड़े हैं मौन औदुम्बर।
व शाखों पर
लटकते घुग्घुओं के घोंसले
परित्यक्त, भूरे, गोल।

विगत शत पुण्य का आभास
जंगली हरी कच्ची गन्ध में बसकर
हवा में तैर
बनता है गहन सन्देह
अनजानी किसी बीती हुई उस श्रेष्ठता का जो कि
दिल में एक खटके-सी लगी रहती।

बावड़ी की इन मुंडेरों पर
मनोहर हरी कुहनी टेक
बैठी है टगर
ले पुष्प-तारे-श्वेत

उसके पास
लाल फूलों का लहकता झौंर—
मेरी वह कन्हेर....
वह बुलाती एक खतरे की तरफ जिस ओर
अँधियारा खुला मुँह बावड़ी का
शून्य अम्बर ताकता है ।

बावड़ी की उन घनी गहराइयों में शून्य
ब्रह्मराक्षस एक पैठा है,
वह भीतर से उमड़ती गूँज की भी गूँज,
बड़बड़ाहट-शब्द पागल-से ।
गहन अनुमानिता
तन की मलिनता
दूर करने के लिए प्रतिपल
पाप-छाया दूर करने के लिए, दिन रात
स्वच्छ करने—
ब्रह्मराक्षस
घिस रहा है देह
हाथ के पंजे, बराबर,
बाँह-छाती-मुँह छपाछप
खूब करते साफ,
फिर भी मैल
फिर भी मैल ! !

और....होठों से
अनोखा स्तोत्र, कोई कुछ मन्त्रोच्चार,
अथवा शुद्ध संस्कृत गालियों का ज्वार,
मस्तक की लकीरें
बुन रहा
आलोचनाओं के चमकते तार ! !
उस अखण्ड स्नान का पागल प्रवाह···
प्राण में संवेदना है स्याह ! !

किन्तु, गहरी बावड़ी
की भीतरी दीवार पर
तिरछी गिरी रवि-रश्मि
के उड़ते हुए परमाणु, जब
तल तक पहुँचते हैं कभी
तब ब्रह्मराक्षस समझता है, सूर्य ने
झुक कर 'नमस्ते' कर दिया।

पथ भूलकर जब चाँदनी
की किरन टकराये
कहीं दीवार पर,
तब ब्रह्मराक्षस समझता है
वन्दना की चाँदनी ने
ज्ञान-गुरु माना उसे
अति-प्रफुल्लित कण्टकित तन-मन वही
करता रहा अनुभव कि नभ ने भी
विनत हो मान ली है श्रेष्ठता उसकी ! !

और तब दुगुने भयानक ओज से

पहचान वाला मन
सुमेरी-बैबिलौनी जन-कथाओं से
मधुर वैदिक ऋचाओं तक
व तब से आज तक के सूत्र
छन्दस्, मन्त्र, थियोरेम,
सब प्रमेयों तक
कि मार्क्स, एंजेल्स, रसेल, टायनबी
कि हीडेग्गर व स्पेंग्लर, सार्त्र, गान्धी भी
सभी के सिद्ध-अन्तों का
नया व्याख्यान करता वह
नहाता ब्रह्मराक्षस, श्याम
प्राक्तन बावड़ी की
उन घनी गहराइयों में शून्य।

........ये गरजती, गूँजती, आन्दोलिता
गहराइयों से उठ रहीं ध्वनियाँ, अतः
उद्भ्रान्त शब्दों के नये आवर्त में
हर शब्द निज प्रति-शब्द को भी काटता,
वह रूप अपने बिम्ब से भी जूझ
विकृताकार-कृति
है बना रहा
ध्वनि लड़ रही अपनी प्रतिध्वनि से यहाँ।

बावड़ी की इन मुँडेरों पर
मनोहर हरी कुहनी टेक सुनते हैं
टगर के पुष्प-तारे श्वेत
वे ध्वनियाँ!

सुनते है करौंदी के सुकोमल फूल
सुनता है उन्हें प्राचीन औदुम्बर
सुन रहा हूँ मैं वही
पागल प्रतीकों में कही जाती हुई
वह ट्रैजिडी
जो बावड़ी में अड़ गयी।

खूब ऊँचा एक जीना सांवला
उसकी अँधेरी सीढ़ियाँ....
वे एक आभ्यन्तर निराले लोक की।
एक चढ़ना औ, लुढ़कना,
पुनः चढ़ना और उतरना
मोच पैरों में
व छाती पर अनेकों घाव।
बुरे-अच्छे-बीच के संघर्ष
से भी उग्रतर
अच्छे व उसने अधिक अच्छे-बीच का संगर
गहन किंचित् सफलता,
अतिभव्य असफलता, ! !
....अतिरेकवादी पूर्णता
की ये व्यथाएँ बहुत प्यारी हैं....
ज्यामितिक संगति-गणित
की दृष्टि से कृत
भव्य नैतिक मान
आत्मचेतन सूक्ष्म नैतिक मान...
....अतिरेकवादी पूर्णता की तुष्टि करना
कब रहा आसान

मानवी अन्तर्कथाएँ बहुत प्यारी हैं !!

रवि निकलता
लाल चिन्ता की रुधिर-सरिता
प्रवाहित कर दीवारों पर,
उदित होता चन्द्र
व्रण पर बाँध देता
श्वेत-धौली पट्टियाँ
उद्विग्न भालों पर
सितारे आसमानी छोर तक फैले हुए
अनगिन-दशमलव-से,
दशमलव-बिन्दुओं के सर्वतः
पसरे हुए उलझे गणित मैदान में
मारा गया, वह काम आया,
और वह पसरा पड़ा है...
वक्ष, बाँहें खुली फैलीं
एक शोधक की।

व्यक्तित्व वह कोमल स्फ़टिक-प्रासाद-सा,
प्रासाद में जीना
व जीने की अकेली सीढ़ियाँ
चढ़ना बहुत मुश्किल रहा।
वे भाव-संगत तर्क-संगत
कार्य-सामंजस्य-योजित
समीकरणों के गणित की सीढ़ियाँ
हम छोड़ दें उसके लिए।
उस भाव-तर्क व कार्य-सामंजस्य-योजन-

शोध में
सब पण्डितों, सब चिन्तकों के पास
वह गुरु प्राप्त करने के लिए
भटका !!

किन्तु—युग बदला व आया कीर्ति-व्यवसायी-
....लाभकारी कार्य में से धन,
व धन में से हृदय-मन,
और, धन अभिभूत अन्तःकरण में से
सत्य की झाईं
निरन्तर चिलचिलाती थी।

आत्मचेतस् किन्तु इस
व्यक्तित्व में था प्राणमय अनबन....
विश्व चेतस् बे-बनाव !!
महत्ता के चरण में था
विषादाकुल मन !
मेरा उसी से उन दिनों होता मिलन यदि
तो व्यथा उसकी स्वयं जीकर
बताता मैं उसे उसका स्वयं का मूल्य
उसकी महत्ता !

व उस महत्ता का
हम सरीखों के लिए उपयोग
उस आन्तरिकता का बताता मैं महत्व !!

पिस गया वह भीतरी
औ' बाहरी दो कठिन पाटों बीच,

ऐसी ट्रैजिडी है नीच !!

बावड़ी में वह स्वयं
पागल प्रतीकों में निरन्तर कह रहा
वह कोठरी में किस तरह
अपना गणित करता रहा
औ' मर गया....
वह सघन झाड़ी के कँटीले
तम-विवर में
मरे पक्षी-सा
बिदा ही हो गया
वह ज्योति अनजानी सदा को सो गयी
यह क्यों हुआ !
क्यों यह हुआ !!
मैं ब्रह्मराक्षस का सजल-उर शिष्य
होना चाहता
जिससे कि उसका वह अधूरा कार्य,
उसकी वेदना का स्रोत
संगत, पूर्ण निष्कर्षों तलक
पहुँचा सकूँ।

●

एक अरूप शून्य के प्रति

रात और दिन
तुम्हारे दो कान हैं लम्बे-चौड़े
एक बिल्कुल सियाह
दूसरा कतई सफेद ।
एक-न-एक कान
ढाँकता है आसमान
और इस तरह जमाने के शुरू से
आसमानी शशि के पलँग पर सोये हो ।

धरती की चीखों के शब्द
पंखदार कीड़ों से बेचैन
तुम्हारे कानों के बालों पर बैठते
भिनभिनाते चक्कर काटते ।
अटूट है, लेकिन नींद
आँखें ?
धुँधला-सा 'नेब्युला' ! !
एक-एक आँख में लाल-लाल पुतलियाँ
पुतलियाँ कैसी ?
बुलबुलों की भाँति जो बनती-बिगड़ती हैं
फिर उठ बैठतीं ! !
इसीलिए कोटि-कोटि कनीनिकाओं के बावजूद
कुछ नहीं दीखता;
एक-एक पुतली में लाख-लाख दृष्टियाँ

असंख्य दृष्टिकोण
बनते बिगड़ते ! !
इसीलिए, तुम सर्वज्ञ हो नींद में

फिर भी, यशस्काय दिक्काल-सम्राट्
तुम कुछ नहीं हो, फिर भी हो सब कुछ ! !
काल्पनिक योग्य की पूँछ के बालों को काटकर
होंठों में मूँछ लटका रखी है ! !
ओ नट-नायक
सारे जगत पर रौब तुम्हारा है ! !
तुमसे जो इनकार करेगा
वह मार खायेगा
और, उस मूँछ के
हवाई बाल जब
बल खाते, धरती पर लहराते,
मंडराते चेहरों पर हमारे
तो उनके चुभते हुए खुरदुरे परस से
खरोंच उभरती है लाल-लाल
और, हम कहते हैं कि
नैतिक अनुभूति
हमें कष्ट देती है।
बिलकुल झूठी है सठियायी
कीर्ति यह तुम्हारी।

पर तुम भी खूब हो
देखो तो—
प्रतिपल तुम्हारा नाम जपती हुई

लार टपकाती हुई आत्मा की कुतिया
स्वार्थ-सफलता के पहाड़ी ढाल पर
चढ़ती है हाँफती,
आत्मा की कुतिया
राह का हर कोई कुत्ता जिसे छेड़ता हैं, छेंकता
लेकिन, तुम खूब हो
सूनेपन के डोह में अँधियारी डूब हो।

मात्र अनस्तित्व का इतना तेज उजाला,
वैसे घुप्प अँधेरे का इतना तेज उजाला,
लोग-बाग
अनाकार ब्रह्म के सीमाहीन शून्य के
बुलबुले में यात्रा करते हुए गोल-गोल
गोल-गोल
खोजते हैं जाने क्या ?
बेछोर सिफर अँधेरे में बिला-बत्ती सफर
 भी खूब है।
सृजन के घर में तुम
मनोहर शक्तिशाली
विश्वात्मक फैन्टेसी
दुर्जनों के भवन में
प्रचण्ड शौर्यवान् अण्ट-सण्ट वरदान ! !
खूब रँगदारी है,
विपरीत दोनों दूर छोरों-द्वारा पुजकर
 स्वर्ग के पुल पर
 चुंगी के नोकदार
भ्रष्टाचारी मजिस्ट्रेट, रिश्वतखोर थानेदार !

ओ रे निराकार शून्य ?
महान् विशेषताएँ मेरे सब जनों की
तूने उधार लीं
निज को सँवार लिया
निज को अशेष किया
यशस्काय बन गया सर्वत्र आविर्भूत ?

भई साँझ
कदम्ब-वृक्ष पास
मन्दिर-चबूतरे पर बैठकर
जब कभी देखता हूँ तुझको
मुझे याद आते हैं—
भयभीत आँखों के हंस
व घाव-भरे कबूतर
मुझे याद आते हैं मेरे लोग
उनके सब हृदयरोग
घुप्प अँधेरे घर,
पीली-पीली चिन्ता के अंगारों-जैसे पर,
मुझे याद आती भगवान् राम की शिबरी,
मुझे याद आती है लाल-लाल जलती हुई ढिबरी
मुझे याद आता है मेरा प्यारा-प्यारा देश,
लाल-लाल सुनहला आवेश।
अन्धा हूँ,
खुदा के बन्दों का बन्दा हूँ बावला
परन्तु कभी-कभी अनन्त सौन्दर्य सन्ध्या में शंका के
काले-काले मेघ-सा
काटे हुए गणित की तिर्यक् रेख-सा।

सरीसृप-स्रक्-सा ।
मेरे इस साँवले चेहरे पर कीचड़ के धब्बे हैं,
दाग हैं,
और इस फैली हुई हथेली पर जलती हुई आग है,
अग्नि-विवेक की ।
नहीं, नहीं वह—वह तो है ज्वलन्त सरसिज ! !
जिन्दगी के दलदल-कीचड़ में धँसकर
वक्ष तक पानी में फँसकर
मैं वह कमल तोड़ लाता हूँ—
भीतर से इसलिए, गीला हूँ
पंक से आवृत
स्वयं से घनीभूत
मुझे तेरी बिल्कुल जरूरत नहीं है ।

पता नहीं....

पता नहीं कब, कौन कहाँ किस ओर मिले,
किस साँझ मिले, किस सुबह मिले ! !
यह रात जिन्दगी की
जिससे जिस जगह मिले
है ठीक वहीं, बस वहीं अहाते मेंहदी के
जिनके भीतर
है कोई घर
बाहर प्रसन्न पीली कनेर
बरगद ऊँचा, जमीन गीली
मन जिन्हें देखकर कल्पना करेगा जाने क्या ! !
तब बैठ एक
गम्भीर वृक्ष के तले
टटोलो, मन, जिससे जिस छोर मिले,
कर अपने-अपने तप्त अनुभवों की तुलना
घुलना-मिलना ! !

यह सही है कि चिलचिला रहे फासले,
तेज दुपहर भूरी
सब ओर गरम धार-सा रेंगता चला
काल बाँका-तिरछा,
पर, हाथ तुम्हारे में जब भी मित्र का हाथ
फैलेगी बरगद-छाँह वही
गहरी-गहरी सपनीली-सी

जिसमें खुलकर सामने दिखेगी उरस्-स्पृशा
स्वर्गीय उषा....
लाखों आँखों से, गहरी अन्तःकरण तृषा
तुमको निहारती बैठेगी
आत्मीय और इतनी प्रसन्न,
मानव के प्रति, मानव के
जी की पुकार
जितनी अनन्य !
लाखों आँखों से तुम्हें देखती बैठेगी
वह भव्य तृषा
इतने समीप
ज्यों लाली-भरा पास बैठा हो आसमान
आँचल फैला,
अपनेपन की प्रकाश-वर्षा
में रुधिर-स्नात हँसता समुद्र
अपनी गम्भीरता के विरुद्ध चंचल होगा।

मुख है कि मात्र आँखें हैं वे आलोक भरी,
जो सतत तुम्हारी थाह लिए होतीं गहरी,
इतनी गहरी
कि तुम्हारी थाहों में अजीब हलचल,
मानो अनजाने रत्नों की
अनपहचानी-सी चोरी में,
धर लिए गये,
निज में बसने, कस लिये गये।
तब तुम्हें लगेगा अकस्मात्,
....

ले प्रतिभाओं का सार, स्फुलिंगों का समूह
सबके मन का
जो एक बना है अग्नि-व्यूह
अन्तस्तल में,
उस पर जो छायी हैं ठण्डी
प्रस्तर-सतहें
सहसा काँपी, तड़कीं, टूटीं
औ' भीतर का ज्वलंत कोष
ही निकल पड़ा ! !
उत्कलित हुआ प्रज्जवलित कमल ! !
यह कैसी घटना है...
कि स्वप्न की रचना है !
उस कमल-कोष के पराग-स्तर
पर खड़ा हुआ
सहसा होता है प्रकट एक
वह शक्ति-पुरुष
जो दोनों हाथों आसमान थामता हुआ
आता समीप अत्यन्त निकट
आतुर उत्कट
तुमको कन्धे पर बिठला ले जाने किस ओर
न जाने कहाँ व कितनी दूर ! !

फिर वही यात्रा सुदूर की,
फिर वही भटकती हुई खोज भरपूर की,
कि वही आत्मचेतस् अन्तः सम्भावना,
—जाने किन खतरों से जूझे जिन्दगी ! !

अपनी धकधक
में दर्दीले फैले-फैलेपन की मिठास
या निःस्वात्मक विकास का युग
जिसकी मानव-गति को सुनकर
तुम दौड़ोगे प्रत्येक व्यक्ति के
चरण-तले जनपथ बनकर ! !

वे आस्थाएँ तुमको दरिद्र करवायेंगी
कि दैन्य ही भोगोगे
पर तुम अनन्य होगे,
प्रसन्न होगे ! !
आत्मीय एक छवि तुम्हें नित्य भटकायेगी
जिस जगह, जहाँ जो छोर मिले
ले जायेगी...
....पता नहीं, कब, कौन, कहाँ, किस ओर मिले ।

गिरिजाकुमार माथुर

•

गिरिजाकुमार माथुर | एक परिचय

(जन्म १९१८ ई०)

प्रेम और विरह की तीव्र अनुभूतियों को व्यक्तिगत वैशिष्ट्य के सम्पूर्ण उभार के साथ सरल और आवरण-हीन भाषा में प्रस्तुत करते हुए तरुण कवि के रूप में गिरिजाकुमार माथुर काव्य के क्षेत्र में अवतीर्ण हुए और फिर उनका कवि प्रकृति, राष्ट्रीयता, कॉस्मिक चेतना आदि दिशाओं का भी अन्वेषण करता रहा। इस अन्वेषण में सफलताएँ और असफलताएँ दोनों ही हाथ लगीं। असफलता अधिकतर वहाँ दिखाई देती हैं, जहाँ प्रयोगों के पीछे कोई गहरी अनुभूति न होकर यह भावना रही है कि अपनी कविता को किसी प्रकार प्रस्तुत करें कि वह परम्परा से एकदम कटी हुई दिखे। इसी के परिणामस्वरूप 'यह दही-सा चाँद शीतल' और 'आर्ट पेपर ज्यों कटा हो गोल' जैसी उक्तियाँ आई हैं। कभी-कभी विज्ञान के किसी सिद्धान्त को बिना अनुभूति से जोड़े हुए अस्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया गया है, वहाँ भी असफलता ही हाथ लगी है और कविता जैसे गोरखधंधा बनकर रह गई हैं, जैसे 'देह की दूरियाँ' नामक कविता जिसे 'टाइम डाइमेंशन' जैसे भौतिकी के सिद्धान्त के आधार पर रचा गया है।

किन्तु गिरिजाकुमार माथुर की कविता का यह असली रूप नहीं है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, प्रेम और विरह उनका प्रमुख क्षेत्र है। और वह 'अकह अथाह कथा' जो अनेक सुकवियों द्वारा न जाने कब से कही जाती रही है, गिरिजाकुमार के मुख से एक निराले अंदाज के साथ निकली है। वहाँ सब कुछ बड़े सहज रूप में प्रस्तुत हुआ है। कहीं एक हल्के उल्लास से भरा रूप-दर्शन है, जैसे—'बड़ा काजल आँजा है आज'

इस गीत में; कहीं चूड़ी के टुकड़े में तिरती हुई लाज-भरी मदिर तस्वीरें हैं, कहीं थकान की उदासी है—'कौन थकान हरे जीवन को'; कहीं क्वाँर की सूनी दोपहरी में रिक्त कमरे की बढ़ती हुई उजासी है। किन्तु यह तो सब किशोर रोमांस की बातें हैं। इनके अतिरिक्त प्रौढ़ रोमांस की अनुभूति भी कवि को होती है, जब दैनिक जीवन की भट्टी में भावुकता के खोटे सिक्के गल जाते हैं और वास्तविकता उभर आती है।

प्रकृति की धड़कनों का अनुभव उन्होंने बहुत समीप से किया है। मध्यप्रदेश की वनस्थली का प्रभाव चित्र 'ढाक-वनी' नामक लम्बी कविता में प्रस्तुत किया गया है। प्रकृति का मानवीकरण भी उन्होंने अनेक रूपों में किया है। कहीं कामिनी-सी लिपटकर सोई हुई हेमन्त की रात है, कहीं उजले ऊन की शाल पहने हुए धूप है, जो मुडेरों पर ठहरकर झँझरियों से झाँकती है, कहीं हवा की पारदर्शी चूनर पहने हुए चाँदनी है।

राष्ट्रीय भावनाएँ भी कवि को उद्वेलित करती है, किन्तु उसके हृदय में आकर वे आकाश में नहीं उड़तीं धरती की ठोस चट्टानों पर कदम जमाकर अपनी सावधान आँखों से जीवन को देखती हैं। इसलिए स्वतन्त्रता दिवस के अवसर पर वह उल्लास की मदिरा पीकर वस्तु-स्थिति से बेहोश नहीं हो जाता, उसका पूरी तरह अहसास करता हुआ कहता है—आज जीत की रात पहरुए, सावधान रहना। किन्तु सभी जगह कवि में यह सावधानी नहीं दिखाई देती। 'नई भारती' जैसी कविताओं में भारत का रूढ़िगत स्तवन ही मिलता है। देश-रक्षा के लिए उत्साह की बढ़ी विमल अभिव्यक्ति 'बरफ का चिराग' जैसी कविताओं में मिलती है—'बनकर शमशीर उठी जनता, बजता परबत पर नक्कारा। नदियाँ बिजली बन उतर पड़ीं, हो गया लाल ध्रुव का तारा।'

कॉस्मिक चेतना की अभिव्यक्ति पृथ्वी-कल्प नामक प्रतीक-नाट्य में हुई है। कवि की कल्पना का आयाम बड़ा विराट है। पृथ्वी का चित्र

बड़ा भव्य है—अदृश्य अपजल में निराधार बहती हुई पृथ्वी। इतिहास को एक पुस्तक का रूपक देने में भी कवि को सफलता मिली है।

प्राचीन चरित्रों को लेकर कवि ने 'इंदुमती' जैसे काव्य-रूपक की रचना भी की है, जिसमें भाषा, उपमान-प्रतीक आदि की प्राचीन-परंपरा का ही निर्वाह किया गया है। यह काव्य कालिदास के 'रघुवंश' पर आधारित है। 'विजय दशमी' और 'बुद्ध' जैसी कविताओं में अतीत का भाव-भरा श्रद्धा-पूरित स्मरण है। ● ●

चूड़ी का टुकड़ा

आज अचानक सूनी-सी संध्या में
जब मैं यों ही मैले कपड़े देख रहा था,
किसी काम में जी बहलाने,
एक सिल्क के कुर्ते की सिलवट में लिपटा
गिरा रेशमी चूड़ी का
छोटा-सा टुकड़ा,
उन गोरी कलाइयों में जो तुम पहने थीं,
रंग भरी उस मिलन रात में।
मैं वैसा का वैसा ही
रह गया सोचता
पिछली बातें।
दूज-कोर से उस टुकड़े पर
तिरनें लगी तुम्हारी सब लज्जित तस्वीरें,
सेज सुनहली,
कसे हुए बन्धन में चूड़ी का झर जाना,
निकल गई सपने जैसी वे मीठी रातें,
याद दिलाने रहा
यही छोटा-सा टुकड़ा।

•

कौन थकान हरे जीवन की

कौन थकान हरे जीवन की ?
बीत गया संगीत प्यार का,
रूठ गई कविता भी मन की।

वंशी में अब नींद भरी है,
स्वर पर पीत साँझ उतरी है।
बुझती जाती गूँज आखिरी—
इस उदास वन-पथ के ऊपर
पतझर की छाया गहरी है,
अब सपनों में शेष रह गई
सुधियाँ उस चन्दन के वन की।
रात हुई पंछी घर आए,
पथ के सारे स्वर सकुचाए,
म्लान दिया-बत्ती की बेला—
थके प्रवासी की आँखों में
आँसू आ-आकर कुम्हलाए,
कहीं बहुत ही दूर उनींदी
झाँझ बज रही है पूजन की।
कौन थकान हरे जीवन की ?

●

दो चित्र

दो चित्र सदा मेरी आँखों में आते हैं
(एक)
पूरब की धरती का अंतिम पच्छिमी छोर
वह रूप धरा जिसमें सदियों का सार बिछा
भूमध्यसिंधु का मकर जिसे खाया करता
वह अग्नि-भूमि ऊसर, निर्जन
रेगिस्तानों से तपी
खजूरों से छाई
जिसके अंतर की महाधातु बाहर आती
है, गरम तेल के सोतों से
उस धरती पर है एक युगों से क्रास गड़ा
ऐसी लकड़ी का
जिसे समय का दीमक काट नहीं पाया
भूमध्यसिंधु के पानी में
पड़ती विशाल जिसकी छाया
वे एक सीध में खिंची हुई लम्बी बाहें
खूनी कीलों से जड़ी हुई
मुख की मुद्रा विश्रांत मौन
सिर एक ओर को झुका हुआ
नीचे हैं पतले पैर साथ में बँधे हुए

यह हजार वर्षों की छाँह हवाओं में
अब धुंधली पड़ती जाती है

इसलिए कि जो इंसान चढ़ा था सूली पर
वह जिंदा होता है इंसानों में

(दो)

पूरब की धरती का वह सूरजमुखी छोर
सबसे पहले की धूप रची क्वाँरी मिट्टी
जिसके चरणों में तीन सिंधु हैं डूब रहे
पाकर तलुओं की शीतलता
वह नदियाँ, गिरि, वन, मैदानों की श्याम धरा
गेहूँ की हरी बाल जैसी
केसर सी मृदु, हीरे सी दृढ़
ऋतुओं की फसलों सी सुन्दर
गंगा-सा अंतर धीरवान
यद्यपि विन्ध्या की चट्टानों सा है कठोर

यह धरती भी है चढ़ी युगों से सूली पर
हैं खिची हिमालय सी बाँहें
दोनों हथेलियाँ जड़ी हुईं
साम्राज्यवाद की मुहर लगी दो कीलों से
हैं पर्वत चरण बँधे नीचे
मुख की मुद्रा है मौन
किन्तु आँखों में आग धधकती है
हैं कसे धनुष-से वक्र ओठ
पर आँखों में आग्नेय बान खिचता जाता

यह फैल रही है छाया सभी दिशाओं में

ज्यों धुँआँ फैलता भीम हवा के झोंके से
मिटने से कुछ घड़ियों पहले
इसलिए कि जो इंसान मिला था मिट्टी में
वह मिट्टी का तूफान उठाता आता है।

पन्द्रह अगस्त : १९४७

आज जीत की रात
पहरुए, सावधान रहना
खुले देश के द्वार
अचल दीपक समान रहना

प्रथम चरण है नये स्वर्ग का
है मंजिल का छोर
इस जन-मंथन से उठ आई
पहली रत्न हिलोर
अभी शेष है पूरी होना
जीवन मुक्ता डोर
क्योंकि नहीं मिट पाई दुख की
विगत साँवली कोर
ले युग की पतवार
बने अंबुधि महान रहना
पहरुए, सावधान रहना

विषम श्रृङ्खलाएँ टूटी हैं
खुली समस्त दिशाएँ
आज प्रभंजन बन कर चलतीं
युग बंदिनी हवाएँ
प्रश्नचिह्न बन खड़ी हो गईं

यह सिमटी सीमाएँ
आज पुराने सिंहासन की
टूट रहीं प्रतिमाएँ

उठता है तूफान, इंदु तुम
दीप्तिमान रहना
पहरुए, सावधान रहना

ऊँची हुई मशाल हमारी
आगे कठिन डगर है
शत्रु हट गया, लेकिन उसकी
छायाओं का डर है
शोषण से मृत है समाज
कमजोर हमारा घर है
किन्तु आ रही नई जिंदगी
यह विश्वास अमर है
जनगंगा में ज्वार
लहर तुम प्रवहमान रहना
पहरुए, सावधान रहना !

●

प्रौढ़ रोमांस

मेरे विरही युवा मित्रवर
तुम जिस दुख से परेशान हो
वह सचमुच है दुःख नहीं कोई जीवन में
असली दुःख है और बहुत-से
तुम जिसको हो समझ रहे भारी पहाड़ सा
वह तो कागज सा हल्का है
आज दे रहे हो जिसको इतना महत्व तुम
वह कल ही फीका मजाक बन रह जाएगा
ज्यों दुहराई बात रोज की
यह रह-रहकर निकल रहीं जो ठंडी साँसें
वह हवाइयां मुंह के ऊपर
उड़ी-उड़ी बातें हताश सी
खोई-खोई चाल, और
बेहोश आदमी जैसे कामकाज दिन-भर के
यह सब क्या है
यह कैसा है अजब तमाशा
मैं इन सारी बातों को हूँ खूब समझता
बड़े-बड़े इस प्रणय-काल के आदर्शों को
पर मुझको है पता
कि बिछुड़न की इन तीखी पीड़ाओं में
ऊँचे-ऊँचे आदर्शों की इन बातों में
छिपा हुआ है भेद कौन-सा
तुम इस जीवन का निचोड़ जिसको कहते हो

वह सारा वेदान्त फलसफा
काव्य कला की मधुर कल्पना
केवल शारीरिक है
आज नहीं मानोगे तुम मेरी बातों को
नीरस सीख कहोगे जिनको
पर अपनी खिल्ली कल तुम्हीं उड़ाओगे
जब दैनिक जीवन की भट्ठी से
गल जाएँगे खोटे सिक्के सारे मन के
तब जानोगे इन आदर्शों की सच्चाई
हमने भी सोचा था पहले
इस जीवन में
सबसे अधिक मूल्य होता कोमल भावों का
पर ठोकर पर ठोकर खाकर हमने जाना
तोल तराजू के पलड़ों में
मन के संघर्षों से बाहर के संघर्ष
अधिक बोझिल हैं
और हृदय की कलियाँ खिलती देखीं
रुपयों की पूनो में
और प्यार के चाँद बुझ गये
जीवन की सड़कों पर आकर

हमको भी है ज्ञान विरह का
और मिलन का
यह मत समझो बरफ बन गया हृदय हमारा
या कालान्तर में पथराये भाव हमारे
या हमको है नहीं किसी की याद सताती
पर वह तुमसे बहुत भिन्न है

हम मन में सुधि रखकर भी
हैं कर्मशील
हैं संघर्षों में डूबे भूले
हम डटकर जीवन से युद्ध कर रहे प्रतिपल
आज हमारे सम्मुख और समस्याएँ हैं
प्रश्न दूसरे
घर के, बाहर के, समाज के,
मुल्क और दीगर मुल्कों के
अब हमको सुधि की पीड़ा है नहीं सताती
केवल ध्यान यही आता है
आज न बच्चे घर में कूड़ा करने को
खूब सफाई है आँगन, छत पर, कमरों में
पर कुछ खाली-सी है
आज नहीं अच्छी लगती यह
आज न फैले जगह-जगह टीन के डिब्बे
सिगरेटों के खाली पैकेट
चिंदी किए हुए कागज
पन्नी दाँतों में चबी-चबाई
लकड़ी खोखे काठ कठम्बर
दिन भर के दंगों की पीछे छुटी गवाही
नहीं आज है
पहले इस कूड़े-करकट से
मन में भुँझलाहट होती थी
आज वही बच्चों का कूड़ा याद आ रहा
और याद यह आता संध्या की बेला में
यह एकांत मकान
और उजली बाँहों सी यह दीवारें

नहीं समेट पा रही मुझको
और न दिन भर की थकान को मिटा रही है
निस्संकोच लिटा कर अपनी
छत सी खुली हुई छाती पर

यह सब—
और बहुत-सी बातें मन में आतीं
पर इनसे मन बोझिल आज नहीं होता है
और न मुँह पर छाँह उदासी की आती है
और न लगते दिन निराश
रातें मटमैली
क्योंकि बड़ी भोली मिठास की सुधियाँ हैं ये
जीवन के मासूम सुखों की
तन के, मन के स्वस्थ चैन की
जिनकी उजली-उजली छापें
खिंची हुई हैं स्वस्तिक सी कोने-कोने में
और क्योंकि हमने भुज-बल से
अपना मार्ग प्रशस्त बनाया
दुःखों से कर युद्ध
परिस्थितियों से लड़कर
और जूझकर भारी से भारी अंधड़ से
अपना ऊँचा सिर न झुकाकर
केवल मिथ्या आदर्शों से नहीं,
नहीं कोरी रंगीन कल्पनाओं से
किंतु ज़िंदगी की मिठास का रस लेने को
हमने कटुता से खुलकर संघर्ष किया है।

●

ढाक वनी

लाल पत्थर लाल मिट्टी
लाल कंकड़ लाल बजरी
लाल फूले ढाक के वन
डाँक गाती फाग कजरी

सनसनाती साँझ सूनी
वायु का कठला खनकता
झींगुरों की खंजड़ी पर
झाँझ सा बीहड़ झनकता

कंटकित बेरी करौंदे
महकते हैं झाब झोरे
सुन्न हैं सागौन वन के
कान जैसे पात चौड़े

ढूह, टीले, टौरियों पर
धूप-सूखी घास भूरी
हाड़ टूटी देह कुबड़ी
चुप पड़ी है गैल बूढ़ी

ताड़, तेंदू, नीम, रैंजर
चित्र लिखीं खजूर पातें
छाँह मंदी डाल जिन पर
ऊगती हैं शुक्ल रातें

बीच सूने में
बनैले ताल का फैला अतल जल
थे कभी आए यहाँ पर
छोड़ दमयंती दुखी नल

भूख व्याकुल ताल से ले
मछलियाँ थीं जो पकाई
स्नाप के कारन जली ही
वे उछल जल में समाईं

हैं तभी से सांवली
सुनसान जंगल की किनारी
हैं तभी से ताल की
सब मछलियाँ मनहूस काली

पूर्व से उठ चाँद आता
स्याह जल में चमचमाता
वन चमेली की जड़ों से
नाग कसकर लिपट जाता

कोस भर तक केवड़े का
है गसा गुंजान जंगल
उन कटीली झाड़ियों में
उलझ जाता चाँद चंचल

चाँदनी की रैन चिड़िया
ंध फलियों पर उतरती
मूँद लेती नैन गोरे
पाँख धीरे बंद करती

गंध घोड़ों पर चढ़ी
दुलकी चली आतीं हवाएँ
टाप हल्के पड़ें जल में
गोल लहरें उछल जाएँ

सो रहा वन ढूह सोते
ताल सोते तीर सोते
प्रेतवाले पेड़ सोते
सात तल के नीर सोते

ऊँघती हैं रूँद
करवट ले रही है घास ऊँची
मौन दम सीधे पड़ी है
टौरियों की रास ऊँची

साँस लेता है बियाबाँ
डोल जातीं सुन्न छाँहें
हर तरफ गुपचुप खड़ी हैं
जनपदों की आत्माएँ

ताल की है पार ऊँची
उतर गलियारा गया है
नीम कंजी, इमलियों में
निकल बंजारा गया है

बीच पेड़ों की कटन में
हैं पड़े दो-चार छप्पर
हाँड़ियाँ, मचिया, कठौते
लट्ठ, गूदड़, बैल, बक्खर

राख, गोबर, चरी, औंगन
लेज, रस्सी, हल, कुल्हाड़ी
सूत की मोटी फतोई
चका, हँसिया और गाड़ी

धुँआँ कंडों का सुलगता
भौंकता कुत्ता शिकारी
है यहाँ की जिंदगी पर
शाप नल का स्याह भारी

भूख की मनहूस छाया
जब कि भोजन सामने हो
आदमी हो ठीकरे सा
जब कि साधन सामने हो

धन वनस्पति भरे जंगल
और यह जीवन भिखारी
शाप नल का घूमता है
भौंथरे हैं हल, कुल्हाड़ी

हल कि जिसकी नोक से
बेजान मिट्टी झूम उठती
सभ्यता का चाँद खिलता
जंगलों की रात मिटती

आइनों से गाँव होते
घर न रहते धूल कूड़ा
जम न पाता जिंदगी पर
युगों का इतिहास-घूरा

मृत्यु सा सुनसान बनकर
जो बनैला प्रेत फिरता
खाद बन जीवन फसल की
लोक मंगल रूप धरता

रंग मिट्टी का बदलता
नीर का सब पाप धुलता
हरे होते पीत ऊसर
स्वस्थ हो जाती मनुजता

लाल मिट्टी, लाल पत्थर
लाल कंकड़, लाल बजरी
फिर खिलेंगे ढाक वन के
फिर उठेगी फाग कजरी

●

धूप का ऊन

बज रहे ठंडी सुबह के आठ
दिन भी चढ़ गया है
उतरती आती छतों से
सर्दियों की धूप
उजले ऊन की मृदु शाल पहने
वो मुँडेरों पर ठहरकर
झाँकती है झँझरियों से
रात के धोये हुए उन आँगनों में
और अलसाये हुए
कम्बल, लिहाफों, बिस्तरों पर
जो उठाये जा रहे हैं
रात की मीठी कथा के
पृष्ठ पलटे जा रहे हैं
घुले मुख सी धूप यह गृहिणी सरोखी
मंद पग घर आ गई है
चाय के लघु टेबिलों पर
कभी बनती केतली की
प्यालियों की भाप मीठी
कभी बनती स्वयं ही
रसधार ताजे दूध की
या ढालकर निज प्यार
वह हर वस्तु की बनती समस्त मिठास
अधरों पर पिया के

सुबह के अखबार की वह नई खबरें
अब पुरानी हो गई हैं
सुर्खियों के रंग मद्धिम पड़ गये हैं
गुलभरी सिगरेट के अंतिम धुँएँ से
उड़ गई वे पताका सी सूचनाएँ
मिट गये हैं नक्श नकली अक्षरों के
रह गये हैं अक्स असली सूरतों के
नित नये वक्तव्य के जो लगा चेहरे
ओढ़कर रंगीन वादों के लबादे

अक्स जिनके
शीशमहलों की सीढ़ियों से
सब्ज बागों को दिखाकर
हर जगह डेरा जमाते
चेतनाओं को दबाने
दूर करने दिन नई दुनिया नये इंसान का
बस इसलिए दिखते वही चेहरे
सदा बदरंग चेहरे

इसलिए कड़वी हुई हैं
जिंदगी की सब मिठासें
सर्दियों की सुबह के वह रंग
रुकते ही नहीं हैं
ऊन-सी यह धूप की गरमी मुलायम
है खिला पातीं न जीवन फूल को
और चौकी से उठी वह गंध सोंधी
भूख तन-मन की मिटा पाती नहीं है
जल रहे हैं कोटि चूल्हे

किन्तु है इंसान भूखा
जल रही है आग
फिर भी आज तक इंसान भूखा
इसलिए जलते रहेंगे
उस समय तक आग को बुझने न देंगे
आयेगा जब तक न मिट्टी से उजाला
सर्दियों की धूप का मृदु ऊन
फैलेगा न घर पर।

सूरज का पहिया

मन के विश्वास का यह सोनचक्र रुके नहीं
जीवन की पियरी केसर कभो चुके नहीं
उम्र रहे झलमल
ज्यों सूरज की तश्तरी
डंठल पर विगत के
उगे भविष्य संदली
आँखों में धूप लाल
छाप उन ओठों की
जिनके तन रोओं में
चंदरिमा की कली
छाँह में बरौनियों के चाँद कभी थके नहीं
जीवन की पियरी केसर कभी चुके नहीं
मन में विश्वास
भूमि में ज्यों अंगार रहे
आरई नजरों में
ज्यों अलोप प्यार रहे
पानी में धरा गंध
रस में बयार रहे
इस विचार-बीज की
फसल बार-बार रहे
मन में संघर्ष फाँस गड़कर भी दुखे नहीं
जीवन की पियरी केसर कभी चुके नहीं
आगम के पंथ मिलें

रांगोली रंग भरे
सांतिए-सी मंजिल पर
जन भविष्य-दीप धरे
आस्था-चमेली पर
न धूरी साँझ घिरे
उम्र महागीत बने
सदियों में गूँज भरे
पाँव में अनीति के मनुष्य कभी झुके नहीं
जीवन की पियरी केसरी कभी चुके नहीं

●

लक्ष्मीकांत वर्मा

लक्ष्मीकांत वर्मा | एक परिचय

(जन्म—१९२२ ई०)

"जीवन में जो कुछ भी है न तो वह सबका सब संग्रहणीय है, और न सबका सब त्याज्य। इसीलिए स्वीकृति और अस्वीकृति के विकल्प में ही व्यक्तित्व की परख होती है।"

—('अतुकांत' की भूमिका)

लक्ष्मीकांत वर्मा की कविता में अधिकतर सामाजिक और राजनैतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक वैषम्य के प्रति कटुता के दर्शन होते हैं। उनका अपना वैयक्तिक सुख-दुख उनकी कविता में कम ही उभरा है, या यों कहे (जैसा कि 'मैं आत्मलीन हूँ' कविता से जाहिर भी है) कि उनका 'व्यक्ति समाज में समा गया है, समष्टि में मिल गया है। किन्तु यह बात भी शायद ठीक नहीं है, वह समष्टि में मिलकर भी जैसे नही मिला है—वह चौराहों पर बैठे 'मीडियाकरों' की परवाह नहीं करता, उन लैम्प-पोस्टों के नीचे नहीं रुकता, जिन पर पागल़-से करोड़ों पतंगों की भीड़ मरने के लिए तत्पर है। तो, क्या वह सचमुच आत्मलीन है—सामाजिक संवेदना से कटा हुआ आत्मलीन। ऐसा नहीं है शायद। बात यह है कि समाज को वह अपनी दृष्टि से देखता है; किन्तु उसकी दृष्टि समाज के प्रति उत्तरदायित्व और ईमानदारी से पूर्ण है। यही कारण है कि वह आत्म-लीन होते हुए भी अपने युग, परिवेश में आबद्ध समाज को देखता है और उसकी खामियों को पहचानकर उन्हें स्वर देता है; यही कारण है कि चौराहे के 'मीडियाकरों' से वह अपने को अलग महसूस करता है, किन्तु फिर भी जो कुछ कहता है, उन्ही 'मीडियाकरों' के लिए, उनकी चेतना के लिए।

तीखापन, शायद, लक्ष्मीकांत की कविताओं का सर्वाधिक मुखर गुण है। यह तीखापन कहीं करुणा से युक्त होता है तो कहीं व्यंग्य से। उदाहरण के लिए 'बँधी मुट्ठियाँ' नामक कविता में 'हथेलियों के बीच ठुकी हुई कील का दाग' अश्रुल करुणा की नहीं, तीखी करुणा की सृष्टि करता है। 'मणिघर विषदंशहीन' में भी यही बात है। 'अनाम की मृत्यु' में तीखी करुणा के साथ तीखा व्यंग्य भी मिला हुआ है। 'एक सही वर्षगाँठ मनाने के गलत तरीके' में करुणा न आकर व्यंग्य का ही तीखापन उभरता है। 'अतुकांत' कविता भी इसी प्रकार की है।

मुक्तबोध की तरह वर्माजी में भी फैंटेसियों की रचना की प्रवृत्ति मिलती है, जैसे, 'समय : नया साल' या 'एक गलत परिवेश के कुछ सही निष्कर्ष' नामक कविताओं में मुक्तिबोध और वर्माजी की फैंटेसियों में अन्तर यही है कि मुक्तिबोध की दृष्टि मानसिक जटिलताओं की सृष्टि पर अधिक जमी है और वर्माजी की बाह्य जीवन की जटिलताओं पर। इसीलिए मुक्तिबोध जहाँ अपने प्रतीक प्रकृति के बीहड़ वातावरण से लेते हैं, वर्माजी नागरिक जीवन से। मुक्तिबोध को जैसे सरोवर में डूबी सीढ़ियों का, या वट वृक्ष या ब्रह्मराक्षस का रूपक अधिक पसन्द है, वहाँ वर्माजी को अस्पताल, पेराम्बुलेटर, दूध की शीशी आदि का।

वर्माजी में अस्पष्टता और दुरूहता भी प्रायः आ जाती है, जिसका कारण वही है, जिसकी ओर भूमिका में और मुक्तिबोध के परिचय में इंगित किया जा चुका है।

प्रत्येक समर्थ और दृष्टि-सम्पन्न नये कवि की भाँति वर्माजी भी जीवन की जटिलताओं, संघर्षों, विषमताओं, कुंठाओं और निराशाओं की अनुभूति करते हुए भी गहरी आस्था से युक्त हैं—

हँसो पुत्र
हँसो जी खोलकर

अधर क्षितिज के बीच जो
ज्योतिमाला सजल है—बिखेर दो
धरती की घुटन-फुटन-सड़न में
भर दो किलकारियाँ—
मुक्त हास !

●

क्यूरियो मार्ट में अर्जुन की तलाश करते श्रीकृष्ण

हर चीज पर खुदी हुई कीमतें, तारीखें, दिन, घड़ी
लेबल रंग-जोड़ पालिश की पपड़ी
टँगे हुए शीशे, चित्र मूर्तियों के बीच यहाँ
अंकित वैचित्र्य में केवल अनासक्त

मैं हूँ
मैं

सारथी पार्थ का
अपने विराटत्व में जन्मा
अपना ही संक्षिप्त रूप
ओ कुरुक्षेत्र
ओ महासमर के ध्वंस-शेष
कहाँ हूँ मैं
कहाँ है अर्जुन
कहाँ है उसकी व्याकुलता
आस्थाहीन विवशता
कहाँ हैं ज्ञान धर्म काम मोक्ष की सीमाएँ
कहाँ हैं मेरी स्थापित मर्यादाएँ
कहाँ हैं ?
कहाँ हैं ?
कहाँ हैं ?

इस अजायबघर में
मूर्तिवत् मेरा अस्तित्व : सुडौल गढ़ा-गढ़ाया
जड़वत् मेरा बोध : करीने से सजा-सजाया
मूढ़वत् मेरा विराटत्व : चाँदी की डिबिया में धरा-धराया
रसोद्रेक से पूर्ण, धूमालिप्त, धुँधली-सी काया
जर्जरित टूटा सा राधा का रूप यह—
मैं भी तो नहीं पहचान पाया
ओ मेरे भाव-बोध·······
कहाँ है मेरा वह विवेक-भान ?
कहाँ है मेरा विश्व-कल्पित चित्र-ज्ञान ?
पहिया वह जिसे मैंने भीष्म के विरुद्ध गतिशील चक्र दे उठाया था
सोने के फ्रेम में मढ़ा पुरातत्व का शेष।
बाँसुरी मेरी 'नाट फार सेल' के नोट से संत्रस्त है
गांडीव की प्रत्यंचा मरे हुए सर्प-सी बोतल में बंद है
तूणीर के तीर जो अग्नि-साक्ष्य से भरपूर थे पेपरवेट से दबे हुए मंद हैं
जिसे मैंने आत्मबोध से उद्वेलित हो गीता के रूप में गाया
वह आज अवशेष धर्मग्रन्थ है
कर्ण का कवच कुंडल 'छुओ मत' की चिप्पी का पैबंद है
द्रौपदी का चीर : उतरते हुए वस्त्र-सा गुदड़ी-बाजार में स्वच्छन्द
कुंती का अनस्तित्व केवल कलंक है
ओ दिवा....
ओ स्वप्न...

ओ सत्य....

कहाँ है
कहाँ है अर्जुन का वह श्रद्धालु रूप
कम्पित कर कवच-क्लिष्ट
भ्रमित इष्ट—

उत्तप्त आँखों की सजल अभिव्यक्ति
कहाँ हूँ मैं
कहाँ है अर्जुन
ओ कुरुक्षेत्र
कहाँ हूँ मैं....?
कौन है....?
आहट यह किसकी है ?
जीर्ण हाथ
पोली छाती
खोखली आवाज
पथराई आँखें
झुकी रीढ़
गाण्डीव धनुष-सा स्वयं ही झुका-झुका
हाथ में परमिट
आँख में स्थिरता लिए
इस दुकान पर मौन पंक्तिबद्ध !
प्रत्यंचा की डोर की राशन की दुकान पर
खरीदता अर्जुन यह किसका है ?
कौन है कृष्ण इस अर्जुन का
मैं तो हूँ उसका
जिसने गाण्डीव धर दिया था
कुरुक्षेत्र के बीच
(यह तो जूझता, लड़ता, बिना अनास्था, बिना कृष्ण
का अर्जुन है)
मेरा विराटत्व जन्मा था वहाँ
जहाँ जहरीले संशय ने डसा था सारा विवेक
(यह विराटत्व की भावना लिये वामन-सा मौन है)

अर्जुन यह किसका है ?
किसका है ?
किसका है ?
यह तो हर विष को स्वयं पिये
शान्त
मौन
निःस्पृह
विज्ञ सा स्वयंभू
भोग में तपा-सधा
अयाचित वनवास का आतप यह झेल चुका
झेल चुका सारा विष-गंध-वास
आँखों में आत्म-वेदना की किरण-लौ
मेरे विराटत्व से भी अधिक धधकती
प्रज्ज्वलित, चमकती, ज्वाला स्वयं है
सुनो....
सुनो....
सुनो....
मैं नहीं कृष्ण इस अर्जुन का
यह तो है स्वयं वह मृत्तिका-पिंड
जो इस्पात को झुकाता है
मैं यहाँ कहाँ हूँ
कहाँ हूँ
कहाँ हूँ
इस अजायबघर के दरवाजे
खिड़की, रोशनदान
संग्रह किये धर्मग्रन्थ
चित्र, कलमदान

चार मास का बछड़ा
चौमुहा बकरा
छह टाँगों वाली चिड़िया
दो सिर वाले मनुज
अस्थि की आत्मा : विसर्जित ऑफिस टेबिल का कागज
आत्मा की अस्थि : वेस्ट पेपर बास्केट
रम्भा के घुँघरू : कॉलबैल पर दौड़नेवाले चपरासी
इन्द्र के वज्र : काठ के इंचों-खानों वाली पटरी
नारद की वीणा : वेश्या के कोठे पर झंकृत सारंगी
शंकर का नाग : पिटारे में बंद स्थिति की लाचारी
यह सब क्या अचरज है
ये सभी तो सुरक्षित हैं
सुरक्षित नहीं रह सका किन्तु
अर्जुन वह
बदल गया रूप-रंग
अस्तित्व-बोध
सभी कुछ बदल गया
राशन की दूकान पर द्रौपदी का चीर
कट-छँटकर महज चार गज। अड़तालीस इंच
गाण्डीव का वज्र : केवल हाफ पौंड
प्रत्यंचा : केवल एक फुट एलैस्टिक
कर्ण-कुंडल : केमिकल गोल्ड
गीता और न्यूज-प्रिंट
व्यास आज का : केवल क्यूरेटर
गणेश : पटवारी
कृष्ण और कृष्णमाचारी
कुछ समझ में नहीं आता

ओ व्यास
ओ अर्जुन
ओ कुरुक्षेत्र...
कहाँ हूँ मैं........?
कहाँ हूँ मैं........?
कहाँ हूँ........?
कहाँ हूँ........?

मैं हूँ
मेरी आवाज है
अजायबघर क्यूरियो मार्ट
दिखावे का नया आर्ट
अर्जुन की काट छाँट
दुर्योधन की नयी बाट
हर खाने जुए में बिके हुए
हर कौढ़ी फँसी हुई
जंग लगी सुई की नोक कटी हुई
पृथ्वी की छाती पर्त-पर्त बँटी हुई
अन्धी गलियों में युधिष्ठिर की आत्मा
भीम की नपुंसकता बन अटी हुई
ओ अर्जुन
गांडीव को गिरवी रखने के बाद
तुम किस पर हो टिके हुए
क्या तुम भी हो बिके हुए—बिके हुए।

●

मेरा अपराध

मेरा अपराध यह है
कि मैंने कारनिस से गिरे हुए गौरैये के चूजे को
फिर कारनिस पर रख दिया है।
बेतहाशा बढ़ती हुई मक्खियों को
कमरे में जाली का दरवाजा लगाकर
बाहर ही ठहरा दिया है।
अनगिनत गालियों, ढेलों और पत्थरों के बीच
अपना रास्ता निकालने की कोशिश की है।
उन लैम्पपोस्टों के नीचे कभी नहीं रुका
जिन पर पागल-से करोड़ों पतंगों की भीड़
आदतन मरने के लिये तत्पर है।
उन चौराहों की भी परवाह नहीं की
जिन पर बैठकर कुछ मीडियाकर
इन्सानियत के बारे में बात करते हैं।
उन उँगलियों औ नुक्कड़ों की भी परवाह नहीं की
जहाँ हर रोशनी की किरन पहुँचते ही बुझ जाती है।

मेरा अपराध यह है—
मैंने बिना सिर उठाये
और किसी चौखट से टकराये
अपना सिर बचा लिया है
ताकि वक्त-जरूरत काम आये।

●

इतिहास-सेतु

जब मैंने पुस्तक खोली
मुझसे इतिहास पुरुष ने कहा
किसे ढूंढ़ते हो : मुझे ? या अपने को ?
मैंने कहा—केवल अस्तित्व को !

उन्होंने एक साथ अपने हाथ में तलवार ले कहा—
अस्तित्व मेरा नहीं
उन मूर्खों का है जो मुझे पूजते हैं
मैं तो केवल जिया था, मरा था, लड़ा था
भोगा था सुन्दरियों के रूप को, पृथ्वी के गर्भ से निकाला था
अदृश्य गोपनीय रत्न
इसीलिए अस्तित्व मेरा नहीं उनका था
जो मेरी जय-जयकार के साथ
केवल तमाशा देखते रहे।

मैंने उनकी जंग-लगी तलवार उठायी
उसे छूकर मैंने कहा—'अस्तित्व इनका है'
वे एकसाथ बोले : लेकिन मैंने इन्हें चलाया कब
मैंने तो केवल इन्हें लिया था
इसे चलाकर मरनेवाले अनाम हैं
उन्हें मैं भी नहीं जानता।

मैंने फिर पुस्तक खोली
देखा :
एक लम्बी चोंटियों की पंक्ति
अपने अण्डे लिये पुस्तक के एक सिरे से चढ़कर
दूसरे सिरे पर उतर रही थी
मैं मौन मूक-सा देखता रहा
जैसे किसी ने कहा—
इन पर चढ़कर यात्राएँ की जा सकती हैं
इन्हें वरण कर जिया नहीं जा सकता।

•

कुछ गलत यादों के सहारे सार्थक वेदनाएँ

उस दिन शाम उदास नहीं थी
लेकिन वह चाहती थी—
शाम उदास लगे।
उस दिन उसकी साँस खुली नहीं थी
लेकिन उसे लगा
उसकी प्रत्येक साँस खुली हुई लगे
उसे किसी की याद सता नहीं रही थी
पर वह चाहती थी,
कोई याद बनकर आये
वह कुछ गुनगुनाये।
और भी
दूर सड़क से एक तेज मोटर की हार्न सुनाई दी
बिलकुल बगल की रेलवे लाइन से एक गाड़ी
चीखती हुई निकल गई
कार्निस पर गौरइया अपने घोंसले से निकल आयी
जंगले के परदे पर दो छिपकलियाँ
एक दूसरे से लड़ती नीचे गिर पड़ीं
एक शराबी सड़क से फिल्मी गाना गाता गुजर गया
दूधवाले ने सीटी बजायी
पड़ोस से मसाले के छौंकने की बू आयी।
माली ने लॉन में घुस आयी भैंस को गाली दी।
रेडियो से खबरें आने लगीं
संसद में अठारह विधेयक पेश किए जाने की आशा

कच्चे तेल पर रायल्टी दर
मौसम की खबरें !

उसे लगा
जिन्दगी में इतनी उदासियाँ कम नहीं हैं
जिन्दगी बिना उदास हुए भी जी जा सकती है
और
हर उदासी झेली जा सकती है।

आँगन

बरसों के बाद उसी सूने-से आँगन में
जाकर चुपचाप खड़े होना
रिसती-सी यादों से पिरा-पिरा उठना
मन का कोना-कोना
कोने से फिर उन्हीं सिसकियों का उठना
फिर आकर बाँहों में खो जाना
अकस्मात् मण्डप के गीतों की लहरी
फिर गहरा सन्नाटा हो जाना
दो गाढ़ी मेंहदी वाले हाथों का जुड़ना,
कँपना, बेबस हो गिर जाना
रिसती-सी यादों से पिरा-पिरा उठना
मन का कोना-कोना
बरसों के बाद उसी सूने-से आँगन में
जाकर चुपचाप खड़े होना

●

अनाम की मृत्यु

आदमी मर गया
कहते हैं वह आदमी नहीं था
कोई कवि था
भला-सा नाम था
सोचा था भूलूँगा नहीं
पर भूल गया नाम....
....
....
....
...................खैर
कोई भी हो
आदमी सब बराबर हैं
चाहे हो मोदीराम
श्रीराम, सीताराम
कवि अनाम !
मरते हैं सभी
किन्तु अनाम जिन्दा ही मर गया
मर गया सहज स्नेहाभाव में
दर्द ही दर्द था
दर्द था तमाम
हृदय के दर्द पर
लगाता था पेनबाम
जिन्दा ही मर गया
कवि अनाम !

एक सही वर्षगांठ मनाने के गलत तरीके

मिस्टर और मिसेज भान
लान में बैठे-बैठे
अपने विवाह की वर्षगाँठ मना रहे थे।
मिसेज भान ने मि० भान के लिए जूता खरीदा था
और मिस्टर भान ने मिसेज भान के लिए आलूचा
मि० भान को नया जूता काट रहा था
और मिसेज भान को आलूचे खट्टे लग रहे थे
दोनों को एक दूसरे पर गुस्सा आ रहा था
दोनों एक दूसरे से कुछ कहना चाहते थे
लेकिन
चूंकि साल भर तक लगातार
दोनों अपनी-अपनी राय एक-दूसरे के प्रति
बदलते रहे थे
और दोनों एक-दूसरे से लड़ते-झगड़ते रहे थे
इसीलिए आज दोनों सिर्फ एक बात पर
एकमत थे—
कि आज के दिन वे अपने-अपने मतभेद
अपने तक ही रखेंगे।
दोनों ने मिलकर इकतीस मोमबत्तियाँ जलायीं
दोनों ने मिलकर केक काटे
दोनों ने मिलकर गुलगुले खाये
दोनों ने मिलकर जूते और आलूचे की तारीफ की
दोनों ने एक-दूसरे की भावनात्मक एकता का सन्देश दिया
दोनों ने मिलकर फ़ैमिली प्लानिंग को गाली दी

और अपने चौबीसवें पोते के लिए खरीदे गये
पैराम्बुलेटर की लेटेस्ट डिजाइन की तारीफ की
दोनों ने साथ-साथ डिनर खाये
और अलग-अलग सो गये

सुबह घर में कोई नहीं था
मोमबत्तियाँ बुझी पड़ी थीं
और आलूचे डस्ट बिन में थे
जूता आँगन में पड़ा था
और बासी प्लेटों को कुत्ते चाट रहे थे
क्योंकि
मि० भान अपने जख्मी पैर लिए
एण्टीसेप्टिक इन्जेक्शन लगवाने
डा० रमेश के यहाँ गये थे
और मिसेज भान
अपने गोठिल दाँत के मसूढ़ों से परेशान
शहर के डेन्टिस्ट डा० चड्ढा के यहाँ थीं

दोनों
भावात्मक एकता के रस में
डूबे, खोए और सोए हुए थे
मि० भान कराह रहे थे

मिसेज भान कूँथ रही थीं
दोनों ही
अपनी घायल पीढ़ी का
राष्ट्रीय गान गा रहे थे
एक लँगड़ा रहा था
एक तुतला रही थी।

•

मैं आत्मलीन हूँ

मैं आत्मलीन हूँ
रहूँगा आत्मलीन
बन नहीं सकता मैं आवाज किराये की
नहीं हूँ भोंपू, प्रतिध्वनि किसी विज्ञापन की
इश्तहार की कोर पर छपी हुई तस्वीर नहीं हूँ मैं
नहीं हूँ वह डुप्लीकेटर
जो छाती पर वज्र रख
अनुकृति की मशीन सा
रेता जाये

आत्मा का मोती मैं लूँगा वही
जो स्वाती है, ग्राह्य है, प्रकृति है
और इन सबसे ज्यादा
जो मेरा है, अपना है, निज का है !
छाती पर अपने ट्यूमर का टापू उगाकर मरूँगा
बिठाऊँगा मैं उसमें प्रतिभा तुम्हारी नहीं
इसलिए कहता हूँ
आत्मलीन हूँ
रहूँगा मैं आत्मलीन ही !

आत्मा मेरी तुम्हारी नहीं है
एक होने पर, सर्वोपरि होने पर
गुणधर्मा है वह

वह पकती नहीं बावर्ची खाने में
पकाता है उसे अनुपात मन का
आत्मलीन क्षण का तूफानी आत्मबोध
जनक है मेरी रचना का

और यह रचना
आटे की लेई की पिलपिली नहीं
जिसे तुम काठ की बोतल पर रख आकृति दो
यह संभावना उस मृत्तिका-पिंड की
जो किसी की पार्थिव आत्मा बन
अंकुरित कर आती है
श्रद्धा के क्षण : दो किरण-कण

सच मानो ओ
कथ्य तथाकथित जन-श्रुतियों के
आत्महीन नहीं हूँ मैं
आत्मलीन हूँ
रहूँगा आत्मलीन ही मैं !

कुत्ते की परछाईं-सी
जो ध्वनियाँ मेरे आस-पास मुझसे टकराती हैं
मैं उन ध्वनियों से बड़ा हूँ
क्योंकि मैं सुन लेता हूँ
अपनी आत्मलीन स्थिति में
करुणा, वेदना, पीड़ा
उन सबकी जो मेरे साथ-साथ
मौन ही, मुझसे ही मूक हो सकते हैं
मेरा अहंकार

अपनी परिधि का स्वामी है
स्वधर्म की सीमा में सहधर्मा है
दम्भी नहीं है वह
इसलिए वह ईश्वर भी नहीं है
केवल मेरा है
मेरी आत्मलीन स्थिति का है।

●

शीशे का पारा धुल जाता है

शीशे का पारा धुल जाता है
आकृतियों का दोष नहीं होता।
पृष्ठभूमि में जर्जरता से
रूपों की विकृत मुद्राएँ
बड़ी भयानक लगती हैं।
पारे का भी दोष नहीं होता
कुछ शीशे ऐसे होते हैं
जिन पर पारा टिकना मुश्किल हो जाता है
गहराई के अभाव में भी
शकलें पतली लगती हैं।
कुछ शकलें ऐसी होती हैं
जो पारे-शीशे के बावजूद बढ़ती हैं
इनका बढ़ना बड़ा भयानक होता है
शीशे की, पारे की सत्ता अस्तित्वहीन
फिर भी उनकी मर्यादा है।
किन्तु एक स्थिति यह भी होती है
जब कोई मक्खी शीशे पर बैठी
यही सोचने लगती है—
मेरी आकृति इतनी बड़ी हो रही
जो शीशे की सीमा को भी तोड़-फोड़कर
बढ़ जायेगी।

●

मणिधर : विषदंशहीन

यदि उस दवा बेचनेवाले ने
मेरे विष भरे दांत तोड़ डाले
तो मेरा दोष क्या ?
जो तुम सब अपनी-अपनी लाठियाँ ले
ढेले, पत्थर, ईंटों का अंबार ले—
मेरे पास खड़े हो—
मेरे मन पर, शरीर पर
इतने असंख्य घाव करने पर उतारू हो
ताकि मैं पराजित हो
अपना मुँह खोल
तुमको यह दिखला सकूँ
और विश्वास भी दिला सकूँ
—कि मैं विषहीन नपुंसक कीड़ा हूँ
रेंग जाऊँगा इन्हीं नालियों में
चींटियों के लगने पर भी
तड़पूँगा, मगर बोलूँगा नहीं !
किन्तु मैं ऐसा भी नहीं करूँगा
अपने प्रत्येक घाव पर
अपने रक्त की आहुति दूँगा
तुम्हारे इन हाथों की—
लाठियों और उसमें भिचे हुए पत्थरों को
अपने रक्त का टीका दे
अमर वरदान दूँगा

ताकि तुम्हारा यह भ्रम बना रहे
कि हर रेंगनेवाला कीड़ा
(चाहे वह जो भी हो)
विषैला होता ही है !

लेकिन ओ जनसमूह के नायक
क्या करोगे तुम
जब तुम्हारे ही अन्तर का
विषदंश
तुम्हारे तन पर घाव करने को प्रस्तुत ह
विषवमन करेगा ?

मैं अपने रक्त को तब भी
सार्थक मानूंगा
यदि तुम उस समय
मेरी स्मृति पर
एक क्षण को भी
सब कुछ सहन करने में
समर्थ होगे !

ओ जनमेजय
मैं उस समय मरकर भी
तुम्हारे आसपास
जीवित रहूँगा ।

●

धर्मवीर भारती

•

धर्मवीर भारती | एक परिचय

(जन्म १६२६ ई०)

नये कवियों में अपनी रूमानियत के लिए सबसे अधिक बदनाम शायद भारती ही हैं। किन्तु यह बदनामी नयी कविता के कुछ प्रतिक्रियावादी हिमायतियों की ओर से मिली है—उनकी ओर से, जो जीवन के प्रति स्वस्थ-संतुलित दृष्टि न रखकर नारी के प्रति आकर्षण और प्रेम को देखकर मुंह बिचकाने लगते हैं और कहा करते हैं कि आज की दुनिया में प्रेम के लिए कोई स्थान ही नहीं रहा है। किन्तु जैसा कि हम भूमिका में देख चुके हैं, प्रेम एक शाश्वत और सहज मानवीय वृत्ति है, जीवन से उसे कभी निकाला नहीं जा सकता। हम चाहे जितने संघर्षरत हो गये हों, व्यस्त और त्रस्त हो गये हों, किन्तु यदि मानवता से संन्यस्त नहीं हो गए हैं, तो अवश्य ही कुछ ऐसे क्षण हमारे जीवन में आते हैं, जब हम किसी का प्यार-भरा आँचल पाने को बेचैन हो उठते हैं, कहीं समर्पित हो जाते हैं। हाँ, समय के अनुसार उसके रूप में और अभिव्यक्ति की प्रणाली में अन्तर हो सकता है और भारती ने प्रेम की अभिव्यक्ति को अपनी कविता में युगीन संदर्भ देने का सफल प्रयास किया है। यह भारती की शक्ति का ही द्योतक है कि उन्होंने अपनी अनुभूति की सामर्थ्य और सीमा को पहचानकर बिना कोई छद्म व्यक्तित्व ओढ़े उसे व्यंजित किया है। यह उनकी कविता के प्रति ईमानदारी नहीं होती कि वे अपने यौनाकर्षण को आलोचना के भय से कविता में रूपायित न करके ऐसी कथाकथित बड़ी-बड़ी बातों को भरने का प्रयास करते, जो उनकी अनुभूति के बाहर की वस्तु हैं।

भारती की प्रेमाभिव्यक्ति की कई विशेषताएँ हैं। एक तो शारीरिक आकर्षण को पाप मानने वाली प्यूरिटन भावना के प्रति ललकार भरी चुनौती है, जो उनके दो अदद 'गुनाहों के गीतों' में विशेष रूप से दिखाई देती है। दूसरे एक सरल, निर्व्याज अल्हड़पन से युक्त पूजा की भावना है—'ये शरद के चाँद से उजले घुले से पाँव मेरी गोद में। × × ये महज आराधना के वास्ते।' और तीसरे प्रेम की एक उदास दर्द भरी स्मृति है, जो कभी प्रकृति की मार्मिक पृष्ठभूमि के साथ उभरकर आती है तो कभी आत्मचिंतन के रूप में। यह प्रेम का किशोर-रूप है, जिसमें फूलों की कभी न मुरझाने वाली कोमल ताजगी है। इसके बाद जीवन यथार्थ से टकराकर पूजा और आराधना की ऊँची-ऊँची बातें जैसे टूट जाती हैं, फूल लू के झकोरों से मुरझा जाते हैं। 'ठंडा लोहा' में संगृहीत प्रेयसी के पत्र में यही टूटन देखने को मिलती है। शारीरिक आकर्षण के सामने भी आत्मिक प्रेम के ऊँचे आदर्शों की पराजय का अनुभव कवि ने किया है, जैसे 'यह आत्मा की खूँखार प्यास' नामक कविता में। किन्तु इसके विपरीत 'केवल तन का रिश्ता' में शरीर की प्यास थिराती हुई लगती है और जीवन-संध्या के विश्राम-शिविर में बिताये उन क्षणों की अनुभूति को चित्रित करने का प्रयास मिलता है, जब तन से अधिक मन के मिलने की आवश्यकता का अनुभव होता है। धर्मवीर भारती के प्रेम का एक रूप 'कनुप्रिया' में भी मिलता है, जहाँ राधा अपनी निरीहता में आम के बौर को माँग में भरे खड़ी है और कृष्ण अक्षौहिणी सेनाओं के संगठन में व्यस्त हैं। प्रेम अपनी लघुता में ही महान् होता है।

प्रेमाभिव्यक्ति के अतिरिक्त भारती ने अपनी कविता में युग की सांस्कृतिक संक्रान्ति को देखने का प्रयास किया है और उस दिशा में 'अंधा युग' उनकी महत्वपूर्ण उपलब्धि है। यह युग धृतराष्ट्रों का है, दृष्टि खो गई है और दिशाएँ भटक गई हैं। किन्तु भारती का स्वर अनास्था का स्वर नहीं! समूचे के समूचे अंधे युग में कृष्ण हैं, जो ज्योति-

स्तम्भ जैसे खड़े हैं। संक्रान्ति काल का संघर्ष अनास्था और आस्था के बीच द्वन्द्व और अंत में आस्था की ओर संकेत, विजय पर विश्वास भारती की अन्य अनेक कविताओं में भी मिलता है, जैसे 'कविता की मौत', 'पराजित पीढ़ी का गीत', 'कौन चरण' आदि में। भारती का विश्वास है कि जिन अँगुलियों के छू लेने भर से मन के छाले फूल-सितारे बन जाते हैं, उनके आगे माथा नत कर देने से निराशा में भी ताकत मिलती है, हर एक दर्द को नया अर्थ देने से दर्द विराट् जिंदगी में परिणत हो जाता है।

इस संघर्ष और आस्था को स्वर देने के लिए भारती को पौराणिक प्रतीक प्रिय हैं! 'प्रमथ्यूगाथा', 'टूटा पहिया', 'बृहन्नला', 'एक अवतार में आदि' कविताएँ इसी प्रकार की हैं, और पूरा का पूरा 'अंधा युग' तो है ही। नये प्रतीकों और उपमानों को भी बड़ी सफलता से उन्होंने कहीं-कहीं प्रयुक्त किया है जैसे 'निर्माण-योजना' नामक कविता में 'बाँध', 'यातायात', 'कृषि' और 'स्वास्थ्य' के रूपकों द्वारा कुछ विचारों को गहराई से प्रस्तुत करने का प्रयास है। ● ●

मुक्तक

(एक)

ओस से भीगी हुई अमराइयों को चूमता
झूमता आता मलय का एक झोंका सर्द
कांपती-मन की मुँदी मासूम कलियाँ कांपती
और खुशबू सा बिखर जाता हृदय का दर्द

(दो)

ईश्वर न करे तुम कभी ये दर्द सहो
दर्द, हाँ अगर चाहो तो इसे दर्द कहो
मगर ये और भी बेदर्द सजा है ऐ दोस्त !
कि हाड़-हाड़ चिटख जाय मगर दर्द न हो।

(तीन)

आज माथे पर, नजर के बादलों को साध कर
रख दिये तुमने सरल संगीत से निर्मित अधर
आरती के दीपकों की झिलमिलाती छाँह में
बाँसुरी रखी हुई ज्यों भागवत के पृष्ठ पर

(चार)

फीकी-फीकी शाम हवाओं में घुटती-घुटती आवाजें
यूँ तो कोई बात नहीं पर फिर भी भारी-भारी जी है
माथे पर दुख का धुंधलापन, मन में गहरी-गहरी छाया
मुझको शायद मेरी आत्मा ने आवाज कहीं से दी है।

●

फूल, मोमबत्तियां, सपने

यह फूल, मोमबत्तियाँ और टूटे सपने
ये पागल क्षण
यह काम-काज दफ्तर-फाइल, उचटा सा जी
भत्ता वेतन,
ये सब सच हैं !
इनमें से रत्ती भर न किसी से कोई कम,
अन्धी गलियों में पथभ्रष्टों के गलत कदम
या चन्दा की छाया से भर-भर आने वाली आँखें नम,
बच्चों की सी दूधिया हँसी या मन की लहरों पर
उतराते हुए कफन !
ये सब सच हैं !
जीवन है कुछ इतना विराट, इतना व्यापक
उसमें है सबके लिए जगह, सब का महत्व,
ओ मेजों के कोरों पर माथा रख-रखकर रोनेवाले
यह दर्द तुम्हारा नहीं सिर्फ, यह सब का है ।
सबने पाया है प्यार, सभी ने खोया है
सबका जीवन है भार, और सब जीते हैं,
बेचैन न हो—
यह दर्द अभी कुछ गहरे और उतरता है,
फिर एक ज्योति मिल जाती है,
जिसके मंजुल प्रकाश में सबके अर्थ नये खुलने लगते,
ये सभी तार बन जाते हैं
कोई अनजान अँगुलियाँ इन पर तैर-तैर,

सबमें संगीत जगा देती अपने-अपने
गुँथ जाते हैं ये सभी एक मीठी लय में
यह काम-काज, संघर्ष, विरस कड़वी बातें,
ये फूल, मोमबत्तियाँ और टूटे सपने
यह दर्द विराट जिन्दगी में होगा परिणत
है तुम्हें निराशा फिर तुम पाओगे ताकत
उन अँगुलियों के आगे कर दो माथा नत
जिनके छू लेने भर से फूल-सितारे बन जाते हैं ये मन के छाले,
ओ मेजों की कोरों पर माथा रख-रखकर रोनेवाले—
हर एक दर्द को नये अर्थ तक जाने दो ?

कविता की मौत

लादकर के आज किसका शव चले ?
और इस छतनार बरगद के तले,
किस अभागिन का जनाजा है रुका,
बैठ इसके पाँयते, गरदन झुका
कौन कहता है कि
कविता मर गयी ?
मर गयी कविता
नहीं तुमने सुना ?
हाँ, वही कविता
कि जिसकी आग से
सूरज बना
धरती जमी
बरसात लहराई
और जिसकी गोद में बेहोश पुरवाई
पंखुरियों पर थमी
वही कविता
विष्णुपद से जो निकल
और ब्रह्मा के कमण्डल से उबल
बादलों की तहों को झकझोरती
चाँदनी के रजत-फूल बटोरती
शम्भु के कैलास पर्वत को हिला
उतर आयी आदमी की जमीं पर
चल पड़ी फिर मुस्कुराती

शस्य-श्यामल, फूल, फल, फसलें खिलातीं,
स्वर्ग से पाताल तक
जो एक धारा बन बही,
पर न आखिर एक दिन वह भी रही
मर गयी कविता वही
एक तुलसी-पत्र औ'
दो बूंद गंगाजल बिना,
मर गयी कविता, नहीं तुमने सुना ?
भूख ने उसकी जवानी तोड़ दी,
उस अभागिन की अछूती माँग का सिन्दूर
मर गया बनकर तपेदिक का मरीज
औ' सितारों से कहीं मासूम सन्तानें,
माँगने को भीख हैं मजबूर !
या पटरियों के किनारे से उठा,
बेचते हैं,
अधजले कोयले !
(याद आती है मुझे
भागवत की वह बड़ी मशहूर बात
जब की ब्रज की एक गोपी
बेचने को दही निकली,
औ' कन्हैया की रसीली याद में
बिसरकर सुध-बुध
बन गयी थी खुद दही ?
और ये मासूम बच्चे भी
बेचने को कोयले निकले
बन गये खुद कोयले
श्याम की माया)

और अब ये कोयले भी हैं अनाथ
क्योंकि उनका भी सहारा चल बसा !
भूख ने उनकी जवानी तोड़ दी !
यूँ बड़ी ही नेक थी कविता,
मगर धनहीन थी, कमजोर थी
और बेचारी गरीबिन मर गयी ।

मर गयी कविता !
जवानी मर गयी !
मर गया सूरज सितारे मर गये !
मर गये सौन्दर्य सारे मर गये !
सृष्टि के आरम्भ से चलती हुई
प्यार की हर साँस पर पलती हुई
आदमीयत की कहानी मर गयी !

झूठ है यह !
आदमी इतना नहीं कमजोर है ?
पलक के जल और माथे के पसीने से
सींचता आया सदा जो स्वर्ग की भी नींव
ये परिस्थितियाँ बना देंगी उसे निर्जीव ?
झूठ है यह !
फिर उठेगा वह
और सूरज को मिलेगी रोशनी
सितारों की जगमगाहट मिलेगा।

कफन में लिपटे हुए सौन्दर्य को
फिर किरन की नरम आहट मिलेगी
फिर उठेगा वह

और बिखरे हुए सारे स्वर समेट
पोंछ उनसे खून,
फिर बुनेगा नयी कविता का वितान
नये मनु का नये युग का जगमगाता गान !
भूख, खूँरेजी, गरीबी हो मगर
आदमी के सृजन की ताकत
इन सबों को शक्ति के ऊपर
और कविता सृजन की आवाज है !
फिर उभरकर कहेगी कविता
"क्या हुआ दुनिया अगर मरघट बनी,
अभी मेरी आखिरी आवाज बाकी है,
हो चुकी हैवानियत की इन्तेहा,
आदमीयत का मगर आग़ाज़ बाकी है
लो तुम्हें मैं फिर नया विश्वास देती हूँ,
नया इतिहास देती हूँ
कौन कहता है कि कविता मर गयी ।"

●

नया रस

प्रभु
इस रस को
इस नये रस को क्या कहते हैं ?
जिसमें शृंगार की आसक्ति नहीं
जिसमें निर्वेद की विरक्ति नहीं
जिसमें बाँहों के
फूलों जैसे बन्धन के
आकुल परिरम्भण की गाढ़ी तन्मयता के क्षण में भी
ध्यान कहीं और चला जाता है
तन पिघले फूलों की
आग पिया करता है
पर प्रश्न में कई प्रश्नचिह्न उभर आते हैं

यह सब क्या है ?
क्यों है ?
इसके बाद
—और बाद
—और बाद
—और बाद
फिर क्या है ?
चुम्बन आलिंगन का जादू
मन को जैसे ऊपर ही ऊपर से छूकर रह जाता है

अन्दर जहरीले अजगर जैसे प्रश्नचिह्न
एक-एक पसली को जकड़-जकड़ लेते हैं
फिर भी बेकाबू तन
इन पिघले फूलों की रसवन्ती आग बिना
चैन नहीं पाता है
प्रभु
इस रस को
इस नये रस को क्या कहते हैं ?

●

केवल तन का रिश्ता

अब यह जूही के फूलों का तन नहीं रहा
हिरन की छलाँगों जैसा फुर्तीला
लहरों में बल खाती किरनों-सा लचकीला
अब यह जूही के फूलों का तन नहीं रहा
पर जाने क्यों
यह पहले से अधिक सुन्दर है
जाने क्यों इसमें पहले से अधिक जादू है

अब इसमें ममता है
अब इसका रोम-रोम
तृष्णाओं, झगड़ों, समझौतों, मनुहारों की
जाने कितनी मीठी स्मृतियों से बसा हुआ
कितनी बार चिन्ता से जलते हुए माथे को
इस तन से आश्रय मिला
कोमल हमदर्दी मिली
इस तन से कितनी बार
प्रांजल, पवित्र स्नेह
मेरे हारे आकुल मन पर बिखेरा है
अब इसमें पहले से
कहीं अधिक ममता है
रस है
अपनापन है !

तन का—
केवल तन का रिश्ता भी
मांसलता से कितना ऊपर उठ जाता है
अब यह जूही के फूलों सा तन नहीं रहा
पर इसमें पहिले से कहीं अधिक जादू है !

निर्माण योजना

(कविता की मिनिस्ट्री द्वारा प्रस्तुत)

१—बाँध

बाँधो !
नदी यह घृणा की है
काली चट्टानों के
सीने से निकली है
अन्धी जहरीली गुफाओं से
उबली है !
इसको छूते ही
हरे वृक्ष सड़ जायेंगे
नदी यह घृणा की है :
लेकिन नहीं है निरर्थक यह
बँधने से इसको भी अर्थ मिल जाता है !
इसकी ही लहरों में
बिजली के शक्तिवान घोड़े हैं सोये हुए!
जोतो उन्हें खेतों में, हलों में—
भेजो उन्हें नगरों में, हलों में—
बदलो घृणा को उजियाले में
ताकत में,
नये-नये रूपों में साधो—
बाँधो—
नदी यह घृणा की है।

२—यातायात

बिना किसी बाधा के
नित नयी दिशाओं में
जाने की
सुविधा दो
बिना किसी बाधा के
श्रम के पसीने से
सिंची हुई फसलों को
खेतों से आँतों तक जाने की
सुविधा दो

बिना किसी बंधन के
हर चलते राही को
यात्रा में
अक्सर थक जाने पर
मनचाहे नये गीत गाने की
सुविधा दो

कभी-कभी अजब-सी रहस्यमय पुकारों पर
मन को अपरिचित नक्षत्रों की राहों में
जाकर खो जाने को सुविधा दो।

३—कृषि

ये फसलें काटो............
पिछले जमाने में
बीज जो बोये विषमता के
आज वही सापों की खेती उग आई !

धरती को फिर सँवारो
क्यारी में बीज नये डालो
पसीने के, आँसू के
प्यार के, हमदर्दी के
मेंड़ें मत बाँधो
भूमि सबकी,
दर्द सबका है।

४—स्वास्थ्य

वे सब बीमार हैं
वे जो उन्मादग्रस्त रोगी से
मंचों पर जाकर चिल्लाते हैं
बकते हैं
भीड़ में भटकते हैं
बात, पित्त, कफ के बाद
चौथे दोष अहम् से पीड़ित हैं!
बस्ती-बस्ती में
नये अहम् के अस्पताल खुलवाओ
वे सब बीमार हैं
डरो मत—तरस खाओ!

●

टूटा पहिया

मैं
रथ का टूटा हुआ पहिया हूँ
लेकिन मुझे फेंको मत
क्या जाने कब

इस दरूह चक्रव्यूह में
अक्षौहिणी सेनाओं को चुनौती देता हुआ
कोई दुस्साहसी अभिमन्यु घिर जाय ?
अपने पक्ष को असत्य जानते हुए भी
बड़े-बड़े महारथी
अकेली निहत्थी आवाज को
अपने ब्रह्मास्त्रों से कुचल देना चाहें
तब मैं
रथ का टूटा हुआ पहिया
उसके हाथों मे
ब्रह्मास्त्रों से लोहा ले सकता हूँ।

मैं रथ का टूटा हुआ पहिया हूँ
लेकिन मुझे फेंको मत
इतिहासों की सामूहिक गति
सहसा झूठी पड़ जाने पर
क्या जाने
सच्चाई टूटे हुए पहियों का आश्रय ले !

●

चैत का एक दिन

सूरज में नहाये हुए
नीले कमल-सा यह चैत का नशीला दिन
मैंने बिताया नहीं
केवल गुजार दिया....
बेसुध तुम्हारे पास बैठे हुए
रूखो तुम्हारी मुक्त वेणी को
अँगुलो में बार-बार प्यार से लिपटाकर
अनबाँधें छोड़ दिया

निंदियारी आँखों से
बार-बार देखने की कोशिश की—
देखा नहीं,
बौर लदी नाजुक टहनी-सी इस देह की
हल्की गरमाई को केवल महसूस किया
जाना नहीं

शाम हुई :
केवल तुम्हारी रूपगन्ध में पगा मन
टूट-टूट रह-रह अलसाने लगा
मैंने कुछ नहीं किया
धीमे से तुम्हारे माथे पर झुके
रूखे हठीले एक कुन्तल को
होठों से सँवार दिया

सुनो
सच बतलाना
क्या तुमने कभी भी
किसी ने भी
इतना उजला, कोमल, पारदर्शी प्यार दिया ?

●

शाम, एक थकी लड़की

नींद भरी, तरलायित, बड़री कटावदार आँखें मूंद
शाम—
एक सफर में थकी हुई लड़की सी
आई और मेरे पास बैठ गई :
बैठी रही गुमसुम : धीमे
से उठी
और कसे हुए अंग ढील
उतर गयी
गुनगुनी धूप की नदी में
साँवला सलोना जिस्म
कुछ क्षण लहरों के हिलकोरों पर
काँपा
फिर घुलने लगा—
घुलने लगा पानी की लपटों में
नीली मोमबत्ती सा !

ओ जल-निमग्ना ?
ओ लहर विह्वल ।
अपने को थामो, सम्हालो—
मैं हूँ नदी-तल की रेत ।
अर्पित हूँ,
लेकिन किसी भी क्षण पांवों तले से
बह जाऊँगा ।

•

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना

•

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना | एक परिचय

(जन्म १९२७ ई०)

"समकालीन सत्य और यथार्थ को जो नये कवि सफल और सबल हाथों से पकड़ सके हैं—जो सच्चे अर्थों में समकालीन जीवन से संपृक्त हैं—उनमें सर्वेश्वर जी का विशेष स्थान है।"—अज्ञेय

सर्वेश्वर का कवि-व्यक्तित्व बड़ा विराट् है। नये कवियों में ऐसा कवि शायद ही कोई हो, जिसने जीवन के इतने विविध पक्षों की अनुभूति अपने काव्य के माध्यम से दी हो। उनमें लोकगीत की मस्ती-भरी धुन पर सहज प्रेम के गीत गाने की जितनी सामर्थ्य है, उतनी ही संत्रास और संक्रान्ति की उलझी हुई संवेदना को व्यक्त करने की भी, विरह की गहन व्यथा को अद्भुत संयम के साथ कविता में उतारने की जितनी क्षमता है, उतनी ही युग की विषमताओं पर चुभते हुए व्यंग्य करने की भी। उनमें जितनी अनास्था और पराजय है, उससे कहीं अधिक आस्था और विजय का विश्वास है। वे प्रकृति को खिलवाड़ की मनःस्थिति में भी चित्रित कर सकते हैं और गहनतम अनुभूतियों के रंग में रंगकर भी। जीवन में हर कहीं रम लेने की और हर कहीं से कविता पा लेने की इस व्यक्ति में अजीब-सी ताकत है। प्रतिक्रियावादियों की भांति उसमें जीवन के किसी पक्ष-विशेष से परहेज नहीं है।

'मैंने कब कहा' नामक कविता में कवि ने जो नये कवि की विशेषताएँ बतलाई हैं, वे सबकी सब उसमें मिलती हैं। सर्वेश्वर झूठी मुसकानें नहीं बेचते, सच्ची चोटें बांटते हैं; मर्म सहलाते नहीं, कुरेदते हैं; लेकिन वे चोटों के लिए चोटें नहीं बांटते, कुरेदने के लिए मर्म नहीं कुरेदते; वे तो यह सब इसलिए करते हैं कि आहत दुर्बलता भी एक बार

दर्प से शीश उठा दे, व्यथा से अन्तर्दृष्टि मिले और खंडित आत्माएँ शक्ति की समिधाएँ एकत्र कर सकें, इसीलिए जिंदगी आज हालाँकि एक सड़े कपड़े की तरह फटती चली जा रही है, फिर भी वे जिंदगी का एक गीत गाना चाहते हैं।

कहा जाता है कि नया कवि औद्योगिक सभ्यता का कवि है और इसलिए उसकी कविता भी 'औद्योगीकृत' होनी चाहिए। सर्वेश्वर शायद इस बात पर विश्वास नहीं करते। वे तो नयी कविता को मानव की वस्तु मानते हैं—विशुद्ध मानव की और इसीलिए उनकी दृष्टि वहाँ जाती है, जहाँ मानव के लिए सुख और शान्ति हो। फिर वह चाहे औद्योगिक सभ्यता हो, चाहे कृषि-सभ्यता। उनके कवि ने देखा है कि औद्योगिक सभ्यता ने मानव को ऊपर से चमकदार, किन्तु भीतर से खोखला बना दिया है। उनकी यह व्यथा 'यहीं कहीं एक कच्ची सड़क थी' नामक कविता में व्यक्त हुई है। 'भरम गये हो तुम' नामक कविता में भी यही बात मिलती है। कवि अनुभव करता है कि 'खेतों की मेड़ों की ओस-नमी-मिट्टी जितनी देर मेरे इन पाँवों में लगी रही, उतनी देर जैसे मेरे सब अपने रहे, उतनी देर जैसे सारी दुनिया सगी रही, किन्तु मैंने ज्यों ही मोजे-जूते पहन लिये, जेब के पर्स का खयाल आने लगा, मेरे आत्मीयों का रुका हुआ काफिला एक-एक करके शीश झुका जाने लगा।'

सर्वेश्वर उन लोगों में नहीं हैं, जो अपने अहं की कहीं न छूटनेवाली गाँठ लिये फिरते हैं, और सारी दुनिया से ऊपर अपने को महसूस करते हुए किसी को स्वीकार नहीं करना चाहते, कहीं डूबना नहीं चाहते। अनादि काल से मानव प्रकृति और नारी में डूबता आया है और कुछ विशेष क्षणों में उन्हें अपने से बड़ा स्वीकार करता आया है। सर्वेश्वर को हम इसी परम्परा में पाते हैं। हाँ, उनमें प्राचीनों की तरह उद्दाम भाव-प्रवणता न होकर बौद्धिक संयम है, जिसकी ओर हम भूमिका में इंगित कर चुके हैं। 'सूर्योदय' नामक कविता में वे कहते हैं—'क्षण भर को डूब

जाएँ इस हरहराते रंग-प्लावन में अपना पांडु-तन ले' किन्तु उनके लिए यह डूब जाना अपनेआप में चरम लक्ष्य नहीं है, और यहीं वे रोमेंटिक कवियों से भिन्न हैं। वे सूर्योदय के रंगों में जीवन को और अधिक दीप्त वर्ण बनाने के लिए डूबना चाहते हैं। इसी प्रकार नारी को जब वे अपने अहं से बड़ा स्वीकार करते हैं, तो इसलिए कि वहाँ से जीवन के लिए आस्था मिलती है।

सर्वेश्वर में जितनी क्षमता सपाट-बयानी के साथ काव्य-सृष्टि करने की है, उतनी ही नवीन-बिम्ब-रचना को भी। 'सांझ होते ही' कविता में 'दूर कहीं मुझे खोजते फिरते मेरे रोते हुए बच्चे की आवाज आती है और मेरी पत्नी रसोईघर की फीकी बीमार रोशनी में बैठी मेरी प्रतीक्षा करते देखी जाती है।' ये पंक्तियाँ अपनी सपाट-बयानी में भी कितनी मार्मिक भाव-सृष्टि करती हैं। इसी प्रकार 'फिर भी मैं' नामक कविता में चांद का आकाश की झील में मरे हुए हिरन-सा उतरा आना विकृत हो गये जीवन की अभिव्यक्ति के लिए अत्यन्त प्रभावी नूतन बिम्ब-रचना है। ● ●

रात-भर

रात भर
हवा चलती रही
मन मेरा
स्मृति के कब्जे पर
कसे हुये खिड़की के पल्ले-सा
खुलता, बन्द होता रहा—
छड़ और दीवार के बीच
सर पटकता, रोता रहा।
खूँटी पर लटका
एक चित्र हिलता रहा
सेज पर कोई
चादर तान सोता रहा।

मैंने कब कहा

मैंने कब कहा कि मेरा धर्म है
मर्म सहलाकर व्यथा सुला देना,
मैंने कब कहा कि मेरा कर्म है
पिचके गुब्बारे को गैस भर फुला देना ?
यह तो वे करते हैं
जो असत्य के चश्मे
आँख पर चढ़ाकर बस हरा-हरा देखते हैं,
यह तो वे करते हैं
जो सूखी बालू पर
प्यासे बवंडरों-सा मृगजल देखते हैं।

मैं नया कवि हूँ—
इसी से जानता हूँ
सत्य की चोट बहुत गहरी होती है,
मैं नया कवि हूँ—
इसी से मानता हूँ
चश्मे के तले की दृष्टि बहरी होती है,
इसी से सच्ची चोटें बाँटता हूँ
झूठी मुसकानें नहीं बेचता।

सत्य कहता हूँ
चाहे मर्म झकझोर उठे
आँखें छलछला आयें

क्योंकि आहत दुर्बलता भी
एस बार दर्प से शीश उठा देती हैं,
मुट्ठियाँ भींचकर
सूखो शिरायें तानती है,
वज्र से भी टूटी पसलियाँ अड़ा देतो है।

यदि दुर्बलता दर्प में बदल जाय,
व्यथा अन्तर्दृष्टि दे,
खंडित आत्माएँ
संचित कर सके शक्ति की समिधाएँ
जो जलकर अग्नि को भी
गन्ध ज्वार बना दें,
तो मैंने अपना कवि-धर्म पूरा किया
चाहे मर्म सहलाया न हो, कुरेदा हो।

●

कैसी विचित्र है जिन्दगी

कैसी विचित्र है जिन्दगी
जिसे मैं जीता हूँ।
एक सड़ा कपड़ा जो फटका जाता है
ज्यूँ-ज्यूँ सीता हूँ।
जब भी काढ़ने लगता हूँ
कोई सुन्दर फूल
एक पैबन्द लगाता हूँ
और इस तरह बनाता जाता हूँ
एक लबादा, जिसे हर बार ओढ़ने पर
थर्राता हूँ, फिर भी ओढता जाता हूँ।

तनी हुई मुट्ठियाँ
अक्सर दर्द करने लगती हैं
खुल जाती हैं
और लोग फैली हुई हथेली पर
तिरस्कार की दृष्टि डालकर चले जाते हैं,
जैसे कि वह भिखारी की हो।

मैं देना चाहता हूँ
वह ही नहीं जो मेरे पास है
बल्कि वह भी जो आनेवाली
शताब्दियों में मेरे पास होगा,
लेकिन होंठ काटकर रह जाता हूँ।

अक्सर सोचता हूँ
मैं कहाँ खड़ा होऊँ !
घर आँगन में ?
जहाँ एक ढका हुआ कुआँ है,
जिसके पटरे हर-बार खींच दिए जाते हैं
मुझे उस सीले अन्धकार में गिराने के लिए,
और मैं चारों ओर घिरी अलंघ्य दीवारों की काई पर
नाखूनों से अपने बच्चों को खुश करने के लिए
आदमियों की जानवरनुमा शक्लें बनाता हूँ,
ताकि वे मुझे ऊपर खींच लें
लेकिन फिर-फिर गिरा दिया जाता हूँ।

अक्सर सोचता हूँ
मैं कहाँ खड़ा होऊँ ?
घर के बाहर सड़क पर ?
किसकी प्रतीक्षा में
उनको जो पहचानते हैं तो देखते नहीं
और देखते हैं तो पहचानते नहीं,
जहाँ हर-क्षण अविश्वास और आशंका से भर
असंख्य दृष्टियाँ मुझ पर पत्थरों-सी बरसती हैं,
और मैं उनके ढेर में जीवित दफन हो जाता हूँ
लेकिन हर-बार चोट खाए हुए अंधे चूहे की तरह बाहर निकलता हूँ।

अक्सर घबराकर
आदमियों की बस्ती से दूर चला जाता हूँ
किन्तु शाम होने पर
उसी बस्ती की टिमटिमाती अन्धी रोशनियाँ

अपनी टूटी बाँहें फैला मुझे बुलाती हैं
और मैं जाने क्यों फिर लौट आता हूँ
घरों से निकलकर सड़क पर बैठे
बेपनाह साहसो धुएँ से आँखें चुराता हुआ।

'सुनो' जब मैं किसी को आवाज देता हूँ
वह चीखकर भाग जाता है,
और जब कोई स्वयं मेरी ओर बढ़ता है
मैं आँखें बन्द कर लेता हूँ

उपलब्धि के नाम पर
मेरे पास एक झोला है
जो खडित मूर्तियों से भरा है।

वह मूर्ति शक्ति की है—
जिसके पैर ईश्वर से प्रार्थना करते समय
गिरकर टूट गये हैं।

वह मूर्ति प्यार की है—
जिसकी भुजाएं किसी कायर
कंचन काया की विवशता उठाने में उखड़ गयी हैं।
यह करुणा की मूर्ति है—
जिसकी आँखें स्वार्थ की भट्ठी के सामने
खड़े रहने से जाती रही हैं।

यह मूर्ति ईश्वर के विराट रूप की थी—

जिसका अब केवल
पेट ही पेट रह गया है।

उपलब्धि के नाम पर
मेरे पास बस यही
कुछ खंडित मूर्तियाँ हैं।

गहन व्यथा के क्षणों में
मैं अक्सर इन मूर्तियों से टकराता हूँ
और स्वयं से टूटता हूँ
विलग हो जाता हूँ
किसी जीर्ण शिवाले की तरह ढहता हूँ,
और अपने अस्तित्व की
एक-एक ईंट गिरती हुई देखता हूँ,
लोग जाते हैं
अपने-अपने प्रयोजन से मुझे उठाते हैं
और मेरे इतिहास को कुचलते चले जाते हैं।

हर ओर एक जड़ता
नहीं-नहीं एक मृत्यु है
जिसके सामने मैं अपने को खड़ा पाता हूँ,
और अन्त में कहीं कोई राह न मिलने पर
अपनी ही पराजय के सर्प-मुख के सम्मुख
आहार के लिए रक्खे गये मेढक-सा
निश्चेष्ट बैठ जाता हूँ।
कैसी विचित्र है यह जिन्दगी
जिसे मैं जीता हूँ ?

●

फिर भी मैं

अब भी मैं जिन्दगी का
एक गीत गाना चाहता हूँ।
यद्यपि मेरे लिए
हवा ने अपने केश उतरवा लिए हैं
फूलों ने रंगीन कपड़े पहनने छोड़ दिये हैं,
निर्झर अरगनी पर पड़ी सफेद धोतियों से टँगे हैं
और नदियाँ सिलवट पड़े मैले बिस्तरों-सी बिछी हैं,
सूरज किसी बन्द स्कूल के घण्टे-सा लटका है,
चाँद आकाश की झील में
रात भर तैरते-तैरते थककर
मरे हुए हिरन-सा उतरा आया है,
चिड़ियाँ मिट्टी की हैं—
गाती नहीं, टूट जाती हैं,
पेड़ों को झकझोरने पर भी
पत्तियाँ नहीं हिलतीं।
फिर भी जागने का
एक गीत गाना चाहता हूँ।
यद्यपि मैं
अपने ही सितार के टूटे-बिखरे तारों में
उलझकर गिर पड़ा हूँ,
रास्ते संध्या की ढहती मीनारों से रुँध गए हैं,
सितारे कील की तरह पलकों पर जुड़े हुए हैं,

और साथी सीली हुई दियासलाई की तीलियों-से असहाय हैं,
हर क्षण—
मरी हुई मछली के मुख-सा खुला हुआ है,
हर स्थिति—
टूटी हुई सीढ़ियों-सी जल में डूबी हुई।
फिर भी मैं आगे बढ़ने का
एक गीत गाना चाहता हूँ
मैं कहना चाहता हूँ
'यह कायरों का देश है,
यहाँ लोग देखने को आगे देखते हैं
चलने पर पीछे चलते हैं,
घुनी लकड़ियों के धनुष बनाते हैं
और विवेक के नाम पर
प्रत्यंचा चढ़ाने से मना करते हैं,
बौनों के समाज में
घुटनों के बल चलने की शिक्षा देते हैं,
छोटी चारपाइयों के हिसाब से
आदमी के बढ़े हुए पैर काटकर
सोचते हैं उसे सुख और आराम दे रहे हैं
लेकिन एक भी स्वर नहीं फूटता है,
होठों पर उँगली की तरह कोई एक वाक्य रख जाता है—
'जिसमें जितना ही रस होता है
वह उतना ही निःशब्द टूटता है।'
फिर भी मैं साहस का
एक गीत गाना चाहता हूँ।
जिन्दगी का एक गीत।

●

यहीं कहीं एक सच्ची सड़क थी

सुनो ! सुनो !
यहीं कहीं एक कच्ची सड़क थी
जो मेरे गाँव को जाती थी।

नीम की निबौलियाँ उछालती,
आम के टिकोरे भोरती,
महुआ, इमली और जामुन बीनती
जो तेरी इस पक्की सड़क पर घरघराती
मोटरों और ट्रकों को अँगूठा दिखाती थी,
उलभे धूल भरे केश खोले
तेज धार सरपत की कतारों के बीच
घूमती थी, कतराती थी, खिलखिलाती थी।

सुबह का तूली दुपट्टा
दोपहर की मटमैली गर्दखोर भुलनी,
शाम का सुरमई लहँगा,
सितारों की हबेल, चाँद की हँसुली पहने,
तेरी उस पक्की सड़क पर आने-जानेवाली
जार्जेट की साड़ियों में लिपटी
प्लास्टिक की भबरी, लिपस्टिक पाउडर लगी
पुतलियों को देखकर तालियाँ बजाती थी, मुस्कराती थी ?

सुनो ! सुनो ?

यहीं कहीं एक कच्ची सड़क थी
जो मेरे गाँव को जाती थी।

सावन के बादलों की बकरियों के पीछे
बिजली की लकुटिया हिलाती भागती नजर आती थी,
शीत की ओस-जड़ी हरीतिमा में
काँसे की चूड़ियाँ खनखनाती
इधर-उधर से मेदुर दूब छीलती मिल जाती थी।
गरमी की बहकी पुरवाई में
कटी हुई फसलों की सुनहरी गाँठ
शीश पर उछालती, हुमचती आती-जाती थी।
फैले कछार में
बदलती लीकों के रवाब बजाती थी,
कुँइयों, जलपाखियों के सफेद फूलों से
अल्लड़ मुक्त श्याम तन सजाए
ऋतुओं के डोलते बनजारों को बुलाती थी,
रास रचाती थी,
छिछले गड्ढों में बरसाती नालों में
फाँड़ कसे, बेसुध यौवन के कमल फूल चूमने
धँसती चली जाती थी।
टीलों पर चढ़ती थी
नदियों में उतरती थी
झाऊ की पट्टियों में खो जाती थी,
खेतों को काटती थी
पुरवे बाँटती थी
हारी-थकी अमराई में सो जाती थी।

सुनो ! सुनो !
यहीं कही एक कच्ची सड़क थी
जो मेरे गाँव को जाती थी ।

आधी-आधी रात
बैलों के गले में बँधी घंटियों की
छागल बजाती थी,
भोर होते-होते
यौवन की किसी प्यासी सूनी बनखंडी में
जलते टेसुओं की छाँह तले सुर्ख हो जाती थी,
गुदना गुदाए स्वस्थ मांसल पिंडलियाँ थिरकाती
ढोल, मादल, बाँसुरी पर नाचती थी
पलक झुका गीले केश फैलाए
रामायण की कथा बाँचती थी,
ठाकुरद्वारे में कीर्तन करती थी,
आरती-सी दिपती थी
चन्दन-सी जुड़ाती थी
प्रसाद-सी मिलती थी
चरणामृत-सी व्याकुल होठों से लगकर
रग-रग में व्याप जाती थी ।

सुनो ! सुनो !
यहीं कहीं एक कच्ची सड़क थी
जो मेरे गांव को जाती थी ।
अब वह कहाँ गयी ?
किसने कहा उसे पक्की सड़क में बदल दो
उसकी छाती बेलौस कर दो

स्याह कर दो यह नैसर्गिक छटा
विदेशी तारकोल से,
किसने कहा कि उससे कहे
अपना अंग-अंग खोल
प्रशस्त हो, गंधहीन पालतू
चटकीले रंगों वाले वृक्षों के बीच घूमे,
चिकना घड़ा हो जाय भरी बरसात में
कृत्रिम प्रकाश तले
मरे हुए आवेगों के पतंग
भोर-बेला आधुनिक कौओं को चुगाए,
किसने कहा झूठी उद्दाम वासना के
प्रखर सूर्य में अग्नि-सी तपे,
शीत के स्नेहरंजित तुहिन बिन्दु
शुष्क अन्तर में सोख ले।
किसने कहा कि वह चटकीले साइनबोर्ड—
'यहाँ हर माल सस्ता मिलता है'
गले में लटकाकर, निस्तेज चुहल से भरी
भड़कीले रेस्ट्राँ, काफी हाउस,
सिनेमा, क्लब, थियेटर, फैशन की दुकानों पर घूमे
वेनिटी बाक्स लें, ठंडे हाथों में हाथ डाल
रँगे हुए चिपके, और भरे पर्स चूमे।
किसने कहा कि उसके हृदय पर
चोर बाजार का सामान ले जाने वाली
भारी-भारी ट्रकें चलें,
उसके मस्तिष्क में
चमचमाती मोटरों, स्कूटरों की भाग-दौड़ हो,
किसने कहा—

किसने कहा—
कि वह अपने को बेच दे,
किसी म्युनिसिपैलटी का नम्बर लगाकर
शव-सा पड़ो रहे,
एक ही जड़ सीमा में बँधी रहे
नयी लीकें न पकड़ें,
झूठे करतब दिखाए,
ताकत की दवाइयाँ बेचे
'नवकालों से सावधान' चिल्लाए,
लेकिन अपने भीतर गंदी नालियों का नरक छिपाए
ऊपर से साफ चिकनी बने रहे,
किसने कहा—
कि वह पाकेटमार-सी मिले
दुर्घटना-सी याद रहे,
तीखे विष-सी
ओठों से लगते ही रग-रग में फैल जाए।
किसने कहा—
किसने कहा—

सुनो ! सुनो !
यहीं कहीं एक कच्ची सड़क थी
जो मेरे गाँव को जाती थी।
आह ! वह कहाँ गयी !

●

तुम

तुम वह सत्य हो
जहाँ मैं बार-बार लौटकर आता हूँ।
वह शक्ति जिसके बल पर
अपने को ललकारता हूँ, जूझता हूँ
पराजित होता हूँ फिर जयी बन जाता हूँ

वह आदर्श
जिसे पाने के लिए
मंजिलें बढ़ाता हूँ,
वह मर्यादा
जिसे बनाये रखने के लिए
स्वयं टूट जाता हूँ।
वह दृष्टि जिससे
अपने इस गहन एकान्त को
विराट् आकारों में गढ़ता हूँ,
वह व्यथा जिसका हाथ पकड़
हर अंधकार में आगे और आगे बढ़ता हूँ।
एक भ्रम—
जहाँ कुछ न पाकर भी
सब कुछ पाता हूँ,
एक मृत्यु—

जिसे वरण कर,
अमर हो जाता हूँ।
तुम वह सत्य हो
जहाँ मैं बार-बार लौटकर आता हूँ।

सूर्योदय

आओ, उठो, हम-तुम सूर्योदय देखें ।
देखें, झीने बादलों-से
झर-झरकर रंगों का नदी के जल में
गिरना, पिघलना,
फिर उस नदी का
सैकड़ों रंग-भरे निर्झरों में बदलकर
दिशा-दिशा झरना, बहना, उमड़ना
रोम-रोम फूटना रंगों के विशाल ज्वालामुखी का
क्षण भर को
डूब जायें इस हरहराते रंग-प्लावन में
अपना पांडु तन ले ।
फिर दीप्त वर्ण हो
पंख खोल ऊपर उठें उन्मुक्त पाखी-सा
जीवन के सहज आवेगों के
गिरि-शिखर पर
तेजोमय प्रकाश में
सीमाएँ तोड़कर खड़े हों
एक दूसरे को फिर से पहचानें
आओ, उठो, हम-तुम सूर्योदय देखें ।

●

साँझ—एक चित्र

गहरा नीला धुँआँ
उस छोटे भूरे गाँव के सीमांत पर
जम गया है;
खेतों के बरहे में
चलता हुआ मटियाला पानी
थम गया है;
मटर की भीगी उदास डांठ बैंगनी बूटोंवाली हरी साड़ी पहने
दूर-दूर तक पसरी है।
ढेंकुल बन्द है
डूबते सूरज के किनारे
एक प्रश्न-चिह्न उलटकर
जड़वत् सहम गया है;
दिन के वे गीत
जो हरे तोतों-से
पंख खोले दिशा-दिशा में तैर रहे थे
अब किसी उनींदी
अमराई में उतरकर
झमक रहे हैं।
आकाश साफ है
ओ सितारो चमको
कुंजों में अँधेरा है
जुगुनुओ दमको-दमको।

●

कीर्ति चौधरी

•

कीर्ति चौधरी एक परिचय

(जन्म १९३५ ई०)

भूमिका में हम देख चुके हैं कि प्रणय और समर्पण की भावना को नये कवि ने किस प्रकार संजीदगी और संयम के साथ अभिव्यक्ति दी। कीर्ति चौधरी की कविताओं में यह प्रवृत्ति सबसे अधिक मिलती है। हृदय की कोमल भावनाओं को अकुण्ठ खुलेपन, किंतु सधे संयम के साथ एक सुकुमार सावधान छुअन से रँगकर उन्होंने सिरजा है। उदाहरण के लिए प्रेम के अमर कवि घनानंद की 'कारी कूर कोकिला कहाँ को बैर काढ़ति री, कूकि कूकि तू हू करेजी किन कोरि लै' इन पंक्तियों से उनकी 'कुहू' कविता की तुलना करने से प्राचीन कवियों के मुकाबले नये कवि का बौद्धिक संयम स्पष्ट हो जायगा। कीर्ति चौधरी की कविता इस प्रकार है—

दिन बीते कभी इस शाख पर
किसी कोयल को कूकते सुना था।
तब से जब भी इस ओर आती हूँ
बार-बार
कानों में वही 'कूहू'
गूँजती हुई पाती हूँ।
जैसे मेरे मन के लिए
एक बार का पा लेना ही हमेशा की थाती है।

कीर्ति चौधरी के काव्य में जीवन के प्रति एक बड़ी विमल स्फूर्ति भी

अनुस्युत मिलती है। जीवन उनके लिए एक ओर तो रहस्यलोक से भिन्न, इसी धरती का है, और दूसरो ओर संघर्षों की कटुता और तिक्तता भी नहीं है। इस धरती पर भी आस्थाओं का वरण करके जिया जा सकता है, अनास्था और अविश्वास जिंदगी में कुछ जोड़ते नहीं, उसे ऋण-भार से ग्रस्त ही बनाते हैं। करीने से सजी हुई व्यवस्थित जिन्दगी कीर्ति को पसन्द है, लिहाफ से मुंह ढाँककर सोने की उपेक्षा खुली हवा की ताजगी उनके लिए स्पृहणीय है। उनके इसी स्वच्छ उत्साह को देखकर कुछ समालोचकों ने उनकी भावनाओं को कृत्रिम और रोमानी कह दिया है, और किन्तु शायद वे आलोचक आधी जिन्दगी को ही स्वीकार करने वाले हैं और सहज प्रसन्नता की स्फूर्ति को जीवन से बाहर की चीज समझते हैं। वे यह भी भूल जाते हैं कि कटुताओं के बीच से रस खींच लाना अधिक संयम और साधना की अपेक्षा करता है और जीवनी शक्ति का अधिक बड़ा प्रतीक होता है बनिस्बत कुंठा, हताशा और अनास्था की तिक्तता के।

कीर्ति की शैली में एक विलक्षण आत्मीयता है। उनका लहजा बातचीत का है और बातचीत भी घरेलू किस्म की, निहायत अपनाने से भरी हुई। किन्तु उन्हें इस बात का भी पूरा अहसास है कि हर घरेलू बातचीत कविता नहीं बन जाती। इसलिए चुनाव की सावधानी भी पूरी तरह उनमें मिलती हैं। 'आगत का स्वागत' और 'कार्यक्रम' जैसी कविताओं में उनकी शैली की यह विशेषता अपने चरम शिखर पर पहुँची हुई मिलती है।

कीर्ति चौधरी की कुछ सृष्टियाँ असफल भी हो गई हैं, और इसका उत्तरदायित्व भी उनकी सपाट घरेलू शैली पर है, जो उनकी सफलता की भी कुंजी है। सीधी रेखा खींचना अक्सर कठिन होता है। घरेलू बातचीत की शैली बड़ी प्रभावी होती है यदि उसमें वक्रता या ध्वनि का समावेश हो; किन्तु वही किसी सार-गर्भिता के बिना निस्तेज हो जाती

है। कीर्ति की 'लता—३' और 'फूल झर गये' कविताएँ (तीसरा सप्तक) इसी प्रकार की हैं। 'फूल झर गये' की अंतिम पंक्तियाँ हमारे अभिप्राय को स्पष्ट कर देंगी—"फूलों सम आओ हँस हम भी झरें, रंगों के बीच ही जियें और मरें।' यहाँ अभिप्रत को वाच्य बना देने से सारा सौन्दर्य नष्ट हो गया है। ● ●

बरसते हैं मेघ झर-झर

बरसते हैं मेघ झर-झर
भीगती है धरा
उड़ती गंध
चाहता मन
छोड़ दूँ निबंध
तन को, यहीं भीगे
भीग जाय
देह का हर रन्ध्र
रंध्रों में समाती स्निग्ध रस की धार
प्राणों में अहर्निश जल रही
ज्वाला बुझाए
भीग जाए
भीगता रह जाय सब उत्ताप
बरसते हैं मेघ झर-झर
अलक माथे पर
बिछलती बूँद मेरे
मैं नयन को मूँद
बाँहों में अमिय-रस-धार घेरे
आह ! हिम शीतल सुहानी शांति
बिखरी है चतुर्दिक
एक जो अभिशप्त
वह उत्तप्त अन्तर
दहे ही जाता निरन्तर
बरसते हैं मेघ झर-झर ।

●

निस्तब्ध आधी रात

निस्तब्ध आती रात
सोती-सी दिशाएँ
खुल गई हैं
अचानक ही आँख।

दूर से आता उजाला
झँझरियों की राह
चौड़े पत्र के किस पेड़ की
परछाँह
रह-रह काँपती दीवार पर

बड़ी-छोटी टहनियाँ
उलझे नुकीले पात
हिलते हवा सँग हर बार
बदल देते रूप—
फूल अधखिले कुमुदिनि कुमुद के गौझ
(जैसे बढ़ाकर अब हाथ भर लूँ अंजली)

झुरमुट बाँस के वन के बड़े अपरूप
दौड़ूं छिपूं निकलूं
चांद से यों करूँ अठखेली

यह फूलों से लदी निर्गन्ध किंशुक डार
झरती क्यों नहीं

मुझ पर ?
अनगिनत ये दृश्य
मैं हूँ मुग्ध मोहित ।

दूसरे की रोशनी यह
दूसरे के द्वार पर का वृक्ष
मेरा घर प्रकाशित
डोलते दीवार पर मेरी
अनंकित चित्र किसके हैं
कौन जाने

कौन जाने प्रेरणा का स्रोत होता कौन
कोई सृजन को हर व्यथा सहता मौन
किसको राह मिल जाती
भटकता कौन
किस पर बरस जाता
यों अयाचित सुख
कि नयनों से पिये
बाँहों भरे
वह अपरमित उन्मुख
सदा ।

एक मेरे पास भी
यह दर्द का पौधा
कि जो इस जिन्दगी से
खींचकर संजीवनी बढ़ता
इसकी छाँह यदि सुख दे तुम्हें

सौ बार मैं दुख को समर्पित हूँ
निरंतर घुटन बेचैनी निराशा
के अँधेरे गर्त में
लड़ते हुए ये बोल
तेरे पंथ में कर दें उजाला
मैं उन्हीं पंकिल अँधेरी घाटियों को
बारम्बार अर्पित हूँ

निस्तब्ध आधी रात
मेरी खुल गई हैं आँख
मैंने आज फिर देखा
अभी भी प्रज्जवलित है आग
मन की
वह तो राख थी
बस आवरण की
बुझी बेबस क्लांत ।

•

सुधि के क्षण

जब याद तुम्हारी आती है,
साँसों में केशर की उसाँस छा जाती है।
सहसा
यह आस-पास का जग,
फीका-फीका-सा लगता है।

ऐसा लगता,
जैसे बादल के महलों में मैं बैठी हूँ,
धरती के मानव जहाँ नहीं जा सकते हैं।

उन एकाकी महलों में
सुधि का परस
कंप भर देता है।
ऐसी सिहरन,
ऐसी कम्पन
मधु से
भीगा-भीगा-सा मन
मैं भूली सी बैठी रहती,

जैसे पुष्पों का भार लिए सकुचाय लता।
जाने कैसी अनुभूति बिखर जाती है
मैं सिहर-सिहर रह जाती हूँ

आकंठ डूबकर
मधु के निर्मल सागर में।

अनजाने भावों की भाषा को
व्यक्त नहीं कर पाता है
मेरा यह मन।
कहने को होता बहुत
मगर ऐसा लगता,
जैसे—
तुम दूरी पर भी रह
इन सब बातों से अवगत हो।
अनकहे भाव,
जो बिना कहे खुल जाते हैं,
उनकी लज्जा वरदान सदृश छा जाती है।
मैं भूली-सी बैठी रहती
लज्जा से नत,
पुलकों से भर,
ये जाने कैसे सुधि के क्षण !

●

केवल एक बात थी

केवल एक बात थी
कितनी आवृत्ति,
विविध रूप में करके निकट तुम्हारे कही।

फिर भी हर क्षण,
कह लेने के बाद,
कहीं कुछ रह जाने की पीड़ा बहुत सही।

उमग, उमग भावों की,
सरिता यों अनचाहे
शब्द-कूल से परे सदा ही बही।

सागर मेरे! फिर भी,
इसकी सीमा-परिणति,
सदा तुम्हीं ने भुज भर गही-गही।

●

सुख

रहता तो सब कुछ वही है
ये पर्दे...यह खिड़की, ये गमले....
बदलता तो कुछ भी नहीं है

लेकिन क्या होता है
कभी-कभी
फूलों में रंग उभर आते हैं
मेजपोश कुशनों पर कड़े हुए
चित्र सभी बरबस मुसकाते हैं।
दीवारें : जैसे अब बोलेंगी
आस-पास बिखरी किताबें सब
शब्द-शब्द
भेद सभी खोलेंगी

अनजाने होठों पर गीत आ जाता है।
सुख क्या यही है !
बदलता तो किंचित नहीं है,
लेकिन क्या होता है कभी-कभी।

●

यथास्थान

नहीं, वहीं कार्निस पर
फूलों को रहने दो।
दर्पण में रंगों की छवि को
उभरने दो।
दर्द : उसे यहीं
मेरे मन में सुलगने दो।
प्यास : और कहाँ
इन्हीं आँखों में जगने दो।
बिखरी-अधूरी अभिव्यक्तियाँ
समेटो, लाओ सबको छिपा दूँ
कोई आ जाए
छिः, क्या इतना अस्तव्यस्त
सबको दिखा दूँ।
पर्दे की डोर जरा खींचो
वह उजली, रुपहली किरन
यहाँ आए
कमरे का दुर्वह अँधियारा तो भागे
फिर चाहे इन प्राणों में
जाए...समाए।
उसे वहीं रहने दो।
कमरे में अपने
तरतीब मुझे प्यारी है।
चीज़ें हों यथास्थान
यह तो लाचारी है।

•

एकांत

अब अक्सर जब
एकांत कहीं भी होता है
जाने किसके हित माथा मेरा झुक जाता
ये दृग मुँदकर वर्णनातीत सुख पाते हैं।

मेरी तो कोई मूर्ति नहीं,
मैंने तो कुछ भी, कहीं, प्रतिष्ठित नहीं किया।
प्रतिक्षण बढ़ते ही जानेवाले जो अभाव हैं
उनको कोई पूर्ति नहीं।

पर जाने क्यों
अनजान दिशा में हाथ स्वयं जुड़ जाते हैं।
होकर कृतज्ञ
अंतर सहसा ही भर आता
चेतन प्रबुद्ध मन
आसपास को भूल-बिसर
अपमान-मान सब खाता है
अक्सर अब जब एकांत कहीं भी होता है!

वक्त

यह कैसा वक्त है
कि किसी को कड़ी बात कहो
तो वह बुरा नहीं मानता।

जैसे घृणा और प्यार के जो नियम हैं
उन्हें कोई नहीं जानता

खूब खिले हुए फूल को देखकर
अचानक खुश हो जाना,
बड़े स्नेही सुहृद की हार पर
मन भर लाना,
झुँझलाना,
अभिव्यक्ति के इन सीधे-सादे रूपों को भी
सब भूल गए,
कोई नहीं पहचानता।

यह कैसी लाचारी है
कि हमने अपनी सहजता ही
एकदम बिसारी है!

इसके बिना जीवन कुछ इतना कठिन है
कि फर्क जल्दी समझ में नहीं आता
यह दुर्दिन है या सुदिन है।

जो भी हो संघर्षों की बात तो ठीक है

बढ़नेवाले के लिए
यही तो एक लीक है।
फिर भी दुख-सुख से यह कैसी निस्संगता
कि किसी को कड़ी बात कहो
तो भी वह बुरा नहीं मानता
यह कैसा वक्त है

•

देवता का प्राप्य

देवता का प्राप्य अनसूँघा अछूता पुष्प होता है
बात बचपन की सुनी, आयी अचानक याद।
बीज बोया जतन से,
सींचा सँवारा
प्यार से प्रतिक्षण निहारा।
अन्त में बेला प्रतीक्षित आज आयी—
फुनगियों में लहलहा,
अनुपम हिमानी, शुभ्र कुसुमित गुच्छ झूला।
ज्योति निर्झर मुग्ध मन तकता रहा,
सहसा न बन पाया कि छू लूं हाथ से
जो सिर्फ पावन और शुभ ही तो नहीं है।

एक क्षण बीता कि मन में भाव आया
तोड़ लूँ—चरणों चढ़ा दूँ, श्रेय इसका इसे दे लूँ
धन्य हो लूं, धन्य कर दूँ।

भाव आया ठहरकर स्थायी बना,
फिर दूसरे क्षण गुच्छ मेरे हाथ में
पग उठे देवालय-दिशा में।
पुष्प-सा हो भार कर में
और शुभ संकल्प मन में
पगों की गति के लिए तो अन्य कुछ वांछित नहीं है ?

निकट देवालय अचानक
हाथ से छूटा,
प्रफुल्लित गुच्छ कर्दम में।
मुड़ूँ, झुककर उठा लूँ—
भाव ने रोका....

झुका,
पर वर्जना के स्वरों में
यों किसी ने टोका—
शिव ! शिव ! देवता औ' पंक !
कर्दम लिप्त ! वह देवत्व !
यह तो अशुचि अब !
रुक गया,
ठिठक रहा पैरों सहित संकल्प पूजा-भाव का।
पास दीखा तभी पुरइन पात पर,
हँसता-विहँसता एक कुवलय,
गन्ध मनभायी।

तोड़कर अंजलि सहेजे,
द्रुत पगों से चल दिया
पर पुष्प ने टोका—
अरे ओ बन्धु !
जन्म से हूँ उच्च, अनबींधा, अछूता
पर परिस्थितिवश गिरा हूँ
पंक में
तो अशुचि ठहरा।
और वह जो पंक में उपजा
कि जिसका प्राण आसव मात्र यह कर्दम !

वही पंकज बना है इस मूर्ति का निर्माल्य।
क्या यह सत्य ! तुमको ग्राह्य !
वर्जना का भाव जो उस क्षण उठा था
छिपी परतों से उभक बोला—

सत्य क्या है ! ग्राह्य क्या है !
प्रश्न यह सम्मुख नहीं है,
बन्धु हम केवल निमित्त।
खींचती है लीक हमको
देखती कब दीठ हमको
चल रहे बस जानते
हर शुभ-अशुभ
पावन-अपावन
सत्य-मिथ्या
आवरण में,
नियम के या प्रथा के,
या रूढि और परम्परा के हो,
हमें स्वीकार !
फिर भी प्रश्न तो....

आगत का स्वागत

मुँह ढाँककर सोने से बहुत अच्छा है,
कि उठो जरा,
कमरे की गर्द को ही झाड़ लो।
शेल्फ में बिखरी किताबों का ढेर,
तनिक चुन दो।
छितरे छितराए सब तिनकों को फेंको।
खिड़की के उढ़के हुए
पल्लों को खोलो।
जरा हवा ही आए।
सब रोशन कर जाए

....हाँ, अब ठीक,
तनिक आहट से बैठो,
जाने किस क्षण कौन आ जाए।
खुली हुई फिजां में,
कोई गीत ही लहर जाए।
आहट में ऐसे प्रतीक्षातुर देख तुम्हें,
कोई फरिश्ता ही आ पड़े।
माँगने से जाने क्या दे जाए।

नहीं तो स्वर्ग से निर्वासित,
किसी अप्सरा को ही,
वहाँ आश्रय दीख पड़े।
खुले हुए द्वार से बड़ी सम्भावनाएं हैं मित्र !

नहीं तो जाने क्या कौन,
दस्तक दे-देकर लौट जाएँगे।
सुनो,
किसी आगत की प्रतीक्षा में बैठना,
मुँह ढाँककर सोने से बहुत बेहतर है।

●

संकल्प

चांद सुगठित अंग वाले
किसी देवकुमार जैसा
अभी नभ में सो रहा है।

खिल चुकी शेफालिका
पर गंध का झरना
अभी भी झर रहा है।

सुवासित हैं सब दिशाएँ।
कर्म कोलाहल अजानी घाटियों में
स्वप्न के पट बुन रहा है
मौन हो कण-कण धरा का
पढ़ रहा मानों ऋचाएँ
सुवासित हैं सब दिशाएँ।

भोर की यह ब्राह्म बेला
अभी क्वारी लाज-सा
यह सुबह का पन्ना
अछूता ही पड़ा है
इस सुबह पर आज पहली सतर मैं लिख दूँ।
मुझी से शुरू हो यह दिन !

तो सुनो, संकल्प पढ़ती हूँ
घटें वे सब प्रहर

इस आयु से मेरी
कि जब मैं अनसुनी कर दूँ
क्षितिज के पार से आती हुई झंकार
जो हरदम बुलाती है
चलो, चलते चलो
यह, मैं यहाँ हूँ
पंथ का अवसान।

जिस क्षण भूल जाऊँ
नाम तेरा
ज्योति-सा निष्कंप
जो हरदम दिलाता ध्यान
आगे....और आगे
तेरा यह नहीं है स्थान।

जिस क्षण मोड़ लूँ मुँह
कर्म से
भूलूँ कभी वादा किया था
बढ़ूँगी हर दशा में अम्लान।
जब भी तोड़ लूँ
उस दर्द से नाता
कि जो हर पल
विकल उन्मन बनाता प्राण।

सभी वे प्रहर
मेरी आयु से घट जाएँ
जैसे नीर घटता है जलधि में
ज्वार के पश्चात्।

जैसे वृन्त से झरते अवांछित पात
पल झर जाएं !

आह ! जीकर उन पलों में क्या करूंगी
जो ! नहीं संबद्ध तुमसे ।

कर्म या उल्लास हो
अभिव्यक्ति हो या प्यास हो
मैं उसे लेकर क्या करूंगी !

सुबह के तो स्वप्न सच होते
आज मेरा जागरण सच हो ।
यह सुबह झूठी न कहलाए
जिसे संकल्प पढ़कर
जल सरीखा छोड़ती हूँ ।

●

परिशिष्ट

अज्ञेय

वसंत गीत—

कविता भावना-प्रधान होते हुए भी एक सहज बौद्धिक संयम से अनुशासित है। 'चेत उठी ढीली देह में लहू की धार' एवं 'प्यार ही में यौवन है, यौवन में प्यार' जैसी पंक्तियों में शारीरिक आकर्षण की अकुण्ठ स्वीकृति मिलती है।

पीपल की सूखी....वधू-वनस्थली—छायावाद के कोमल, वायवी एवं भावोच्छ्वास-पूर्ण मानवीकरण से इन पंक्तियों के वस्तु-निष्ठ मानवीकरण की तुलना करके देखने पर दोनों काव्य-धाराओं की संवेदना का अंतर स्पष्ट होगा। निराला के वसन्त गीतों से तुलनीय।

उड़ चल हारिल—

नयी कविता में पुराने प्रतीकों को नये संदर्भों में प्रयुक्त किया है। प्रस्तुत कविता में हारिल को दुर्दम सर्जनेच्छा का और उसके पंजे में दबे तिनके को निर्माण के यत्किंचित् साधनों का प्रतीक माना गया है। जो कुछ उपलब्ध है, उसी को लेकर निर्माण में जुट जाने की यह कांक्षा 'क्रियासिद्धिः सत्वे भवति महतां नोपकरणे' (क्रिया-सिद्धि प्राणशक्ति—दृढ़ संकल्प-शक्ति—से होती है, प्रचुर और बड़े उपकरणों से नहीं) जैसी ही है।

कविता के आरंभ में 'तिनका' के पहले 'ओछा' विशेषण और अंत में 'पावन' विशेषण भी द्रष्टव्य है। पहले जो सामग्री ओछी लगती है, वही संकल्प और सर्जनेच्छा में प्रतिफलित होकर, कर्म-जल से अभिषिक्त होकर पावन हो जाती है।

हारिल—अपने चंगुल में लकड़ी का टुकड़ा लिये रहने वाला एक पक्षी।
हारिल की लकड़ी—अत्यंत प्रिय पदार्थ।

सावन मेघ—

इस कविता की दो विशेषताएँ हैं : एक तो प्रकृति के माध्यम से कामकुंठा की अभिव्यक्ति और दूसरे शृङ्गार के 'एकेडेमिक' तथा आकाशी रूप के स्थान पर अनगढ़ और यथार्थ वासना की शरीर-भोग के स्तर पर स्वीकृति। ये दोनों बातें कविता के प्रथम और द्वितीय अनुच्छेद में देखने को मिलती हैं। अज्ञेय ने काम-कुंठाओं को आधुनिक युग की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समस्या माना है। (दे० 'तारसप्तक' में अज्ञेय का वक्तव्य और 'पुनश्च'।)

(तुलनीय—सारी देह समेट निबिड़ आलिंगन में भरने को। गगन खोलकर बाँह विसुध वसुधा पर झुका हुआ है।)

जागर—

विरह की संयमित अभिव्यक्ति, प्यार की तरलता में भी स्वाभिमान की कसक, जो रोने से रोकती है, एक आकुल सहन शक्ति—प्रस्तुत कविता की वे विशेषताएँ हैं, जो उसे युगीन संदर्भों से जोड़ती हैं।

कल की निशि—

मिलन की अंतिम रात्रि, आसन्न विरह की आशंका से उद्वेलित हृदय।

....कल मिथ्या—प्रसाद के शब्दों में 'तुम सत्य रहे चिर सुन्दर मेरे इस मिथ्या जग के' और जब वह सत्य चला जाय तो शेष बचेगा मिथ्या ही। प्रिय के बिना सब कुछ सूना लगता है, क्योंकि जीवन की वास्तविकता वही है। इस सूनेपन का एहसास अनेक कवियों ने किया है। नीरज कहते हैं—'तू उठ गया तो उठ गई सारी सभा, सिर्फ मन्दिर

थरथराता रह गया।' साहिर लुधियानवी की पंक्तियाँ हैं—'तुम न जाने किस जहाँ में खो गये; हम भरी दुनिया में तनहा हो गये।' उमर खय्याम और उनसे प्रभावित बच्चन इसीलिए मिलन और सुख के प्राप्त क्षणों के उपभोग पर इतना बल देते हैं कि आज यह सब है और कल सुखों की वनी यह चिड़िया पंख फैला कर उड़ जायेगी। यह सब कल के अस्तित्व पर अविश्वास और प्रिय की अनुपस्थिति से उत्पन्न सूनेपन का एहसास ही है। क्षण को भोग लेने का आग्रह और भविष्य के मिथ्यात्व की अनुभूति देश-विदेश की नयी कविता की एक विशेषता है। धर्मवीर भारती ने अपने 'अंधायुग' में भविष्य को झूठा माना है—'भर गये तिमिर से ये सूने गलियारे, जिनमें बूढ़ा झूठा भविष्य याचक सा, है भटक रहा, टुकड़ों को हाथ पसारे।' किन्तु यह दार्शनिक बात है और प्रस्तुत कविता की संवेदना से इसका कोई सम्बन्ध नहीं। यहाँ तो कल का मिथ्यात्व प्रणय से सम्बन्धित है और तज्जनित निराशा ही उसका कारण है। यह भी द्रष्टव्य है कि नीरज, साहिर आदि में तरलता और बच्चन में मस्ती तथा भोग की बेचैनी है, किन्तु प्रस्तुत कविता में एक बौद्धिक संयम सब जगह ओतप्रोत है।

....सूखी स्रजा—सूखी माला—निराशा का प्रतीक।

....अरि गोपित—द्वन्द्व की स्थिति है—आत्म और विरह-वेदना के बीच। विरह ही 'अरि' है किन्तु वह गोपित है, छिपा हुआ। प्राचीन काव्य में कभी काम तो कभी विरह को, कभी पावस तो कभी बसंत को विरह या विरहिणी के शत्रु के रूप में चित्रित किया गया है, किन्तु वहाँ बाह्य—शारीरिक—उद्दीपन ही अधिक प्रधान है जब कि यहाँ आंतरिक संघर्ष को विशेष रूप से दिखाया गया है, इसीलिए 'अरि' छिपा हुआ है और युद्ध अधिक जटिल है।

प्यार प्यार—प्यार ही नहीं, समस्त अस्तित्व ही विरह की उस अवस्था में इतना जटिल हो जायगा कि समझ में नहीं आयेगा।

....घनसार—घनसार का अर्थ कपूर होता है, किन्तु यहाँ 'सघन' के अर्थ में इसका प्रयोग कर दिया गया है।

....गोपित—'छिपाया हुआ' के अर्थ में आता है न कि 'छिपा हुआ' के।

सागर के किनारे—

विरही के लिए उद्दीपन सदा से दुखद रहे हैं। प्राचीन कविता में यह दुःख अपने सरल रूप में अभिव्यक्त हुआ है। 'जोइ-जोइ सुखद दुखद अब तेइ तेइ कवि मंडन बिछुरत जदुपत्ती' या 'बिनु गुपाल बैरिन भई कुंजें × × पवन पानि घनसार सजीवन दधिसुत किरन भानु भई भुंजें' आदि कहकर उसे व्यंजित किया गया है। किन्तु आज की संवेदना के अधिक जटिल हो जाने के कारण उस दुःख की अभिव्यक्ति भी जटिल हुई है।

पहले अनुच्छेद में—चाँदनी की कामना है कि उसमें प्रिय को प्रतिबिंबित करने वाले दहकते हुए लाल बुरूँस नहीं दिखाई देंगे।

दूसरे अनुच्छेद में—सामने फैली डगर से तादात्म्य स्थापित करने में चाँदनी सहायक होगी, जिससे थोड़ी देर के लिए कवि अपने को उसी डगर के समान बुरूँस के फूल रूपी प्रेयसी को भुजाओं में समेटे हुए महसूस करेगा।

तीसरे अनुच्छेद में—कवि अपने बासी जीवन को भूलकर, अपने दुःख दर्दों को बिसारकर थोड़ी देर के लिए चाँदनी में खो जाने की कामना करता है।

इस प्रकार चाँदनी, जो प्राचीन कविता में विरहोद्दीपक बनकर आई है, प्रस्तुत कविता में अन्य विरहोद्दीपकों की शामक एवं आत्मविस्मृति की साधक होने से काम्य है। किन्तु इस समस्त काम्यता और शामकता के बीच से उसका उद्दीपक रूप एक विचित्र भंगिमा में उभरता हुआ अनुभव किया जा सकता है। अपह्नुति के द्वारा वस्तुतः चाँदनी का उद्दीपकत्व ही व्यंजित है।

....यथा पूनों....—'पूनो' से संयोग और निर्जला 'एकादशी' तथा अमावस्या से वियोग ध्वनित होता है। चन्द्रमा की भाँति परिवर्तनशील इस जीवन की बदलती हुई घड़ियाँ—कभी पूनो तो कभी तेरस तो कभी एकादशी निर्जला—शायद चाँदनी में स्मृति-पटल पर उजागर न हो उठें। (अर्थात् अवश्य ही हो उठेंगी)

नन्हीं शिखा—

वासना की स्वीकृति के साथ प्यार की उदात्त आलोक-मयता अभिव्यंजित है। प्यार में स्फूर्ति, बल और आशा का संचार करने की क्षमता है।

अपवर्ग—मोक्ष, निर्वाण।

वक्त्र—मुख।

उत्सृष्ट—परित्यक्त।

स्फीत—फैला हुआ।

कलगी बाजरे की—

पुराने उपमानों के स्थान पर नये उपमानों का आग्रह कवि को सौंदर्य के प्रति एक नयी संवेदना की व्यंजना के लिए है। साँझ के नभ की अकेली तारिका सौंदर्य के प्रति रहस्यवादी और वायवी दृष्टि की परिचायक है, शरद के भोर की कुइं (कमलिनी) सौन्दर्य की निर्मलता और पवित्रता को व्यंजित करती है, चंपे को कली सौन्दर्य की मादक उद्दाम गंध की वाहिका है। किन्तु बिछली घास तथा बाजरे की कलगी (शरद के सूने गगन की पीठिका पर दोलती हुई) एकांत शांति को ध्वनित करती है। दिन भर की भाग-दौड़ में थके शहरातियों को सौंदर्य का यही शांति-विश्रांतिदायक स्वरूप ईप्सित है और उसी के प्रति उसका निश्छल समर्पण है।

ये उपमान मैले हो गये हैं—दे० 'तारसप्तक' की भूमिका में अज्ञेय जो के विचार।

दोलती—झूलती हुई ।

नख-शिख—

इससे पहले की कविता में जिन पुराने मैले उपमानों के देवता कूच कर गये थे, प्रस्तुत कविता में वही नयी सज्जा के साथ दिखाई देते हैं। इससे ज्ञात होता है कि पुराने प्रतीकों को पुरानी भंगिमा के साथ प्रयुक्त करने से ही उनमें प्रभाव-हीनता आती है, भंगिमा नयी हो तो नहीं ।

........सह सकूं मैं—सौन्दर्य की दाहकता को सहने की कामना है, न उससे विचलित होकर कातर पुकार है और न उसकी अस्वीकृति की छलना ।

देह-बल्ली—

भारतीय दर्शन युगों से देह को अस्वीकृत करके या उसकी हीनता प्रतिपादित करके आत्मा के उच्च बर्फीले शून्य शिखरों में भटकता रहा है । कालिदास के 'शरीरमद्यं खलु धर्मसाधनम्' का स्वर बहुत दिनों बाद आधुनिक युग के गीतकारों में तथा नये कवियों में सुनाई दिया । प्रस्तुत कविता में आत्मा की अनंतता के स्थान पर शरीर की इयत्ता की महत्त्व-प्रतिष्ठा है ।

पिंजरा है........शरीर और आत्मा अलग-अलग हैं, इस विचार का प्रत्याख्यान करके कवि यह कहना चाहता है कि शरीर में से ही मन का विकास हुआ और उसी की उन्नत शक्ति आत्मा है । फ्रायड की इड-ईगो-सुपर-ईगो की परिकल्पना भी इसी प्रकार की है । इस प्रकार, संपूर्ण चेतना की अखंडता प्रतिपादित करना कवि को अभीष्ट है ।

व्रीडा-हीन-सौंदर्य—रूप—दैहिक आकर्षण के प्रभाव को स्वीकार करना कोई लज्जा की बात नहीं ।

अस्मिता-इयत्ता....हमारे सीमित और लघु अहं में भी प्रकाशित हो उठने की शक्ति है । अस्मिता और इयत्ता उस अनन्त परमात्मतत्त्व की परिकल्पना के ठीक विरोधी हैं ।

इयत्ता—सीमा ।

चाँदनी जी लो—

शरद चाँदनी में प्रियतम के साथ-साथ होने के क्षणों को गहराई से जीने-भोगने की शांत संयमित अभिव्यक्ति इस कविता की विशेषता है।

यह दीप अकेला—

पिछली कविता में जिस अस्मिता-इयत्ता की स्वीकृति का संकेत है, इसमें उसी का आख्यान है। अपनी लघुता में भी गर्वभरा और ऊपर उठने के लिए आतुर अकेला जलता दीपक उस अस्मिता (इयत्तापूर्ण अस्मिता) का प्रतीक है।

पनडुब्बा—जीवन के अनुभव रत्नों को संचित करने वाला।

समिधा—जीवन की सच्ची आग सुलगाने की क्षमता रखनेवाला संवेदनशील लघु मानव। मुक्तिबोध की 'एक अंतर्कथा' नामक कविता में ऐसी ही (अभी तक उपेक्षित) समिधा की खोज है :

अंतर्जीवन के मूल्यवान जो संवेदन
उनका विवेक-संगत प्रयोग हो सका नहीं
कल्याणमयी करुणाएँ फेंकी गईं
रास्ते पर कचरे जैसी,
मैं चीन्ह रही उनको
जो गहन अग्नि के अधिष्ठान
हैं प्राणवान्
मैं बीन रही उनको।

मुक्तिबोध और अज्ञेय की संवेदना में साम्य होते हुए भी 'एप्रोच' का अंतर है, अज्ञेय की कविता में अहं और आत्मविश्वास की प्रखरता है, जबकि मुक्तिबोध में खोज की बेचैनी की।

मधु, गोरस का अंकुर क्रमशः अस्मिता की अन्वेषण क्षमता, कामधेनुता तथा जिजीविषा के प्रतीक हैं।

यह प्रकृति....दे दो यह अस्मिता रूपी ब्रह्म की ही भाँति गरिमावान

है वैसा ही शक्ति-सापेक्ष। (शक्ति के बिना ब्रह्म जगत् की रचना में समर्थ नहीं। शिव शक्ति के बिना शव है।

यह वह विश्वास.... भक्ति को दे दो—जीवन-संघर्षों में भी आस्था बनाए रखनेवाली अहंता की श्रद्धा ही सच्ची भक्ति का प्रतीक है। यही निष्काम भक्ति या कर्मयोग है।

उल्लम्ब बाहु—ऊपर को बाहें उठाये (विकास की उत्कंठा का प्रतीक)।

बना दे, चितेरे—

"मिट्टी की बनी, पानी से सिंची, प्राणाकाश की प्यासी अंतहीन उदीषा' की आकुल तड़प इस कविता में पूरी तरह ध्वनित होती है।

अपनी तरंगोर्मियों सहित अनंत सागर जीवन और उसके संघर्षों का प्रतीक है, मछली जिजीविषा या उदीषा (ऊपर उठने की इच्छा) का प्रतीक है, ऊपर का आकाश और बुलबुलों की कांक्षाएँ या उदात्त जीवन-मूल्य हैं, जिनकी आकुल तड़प व्यक्ति में होती है। व्यक्ति सदा ऊपर उठना चाहता है। एडलर के अनुसार मनुष्य में दूसरों से श्रेष्ठ बनने की अनिवार्य ललक होती है, वही उसे ऊपर उठने की कामना से भर देती है।

मुक्तिबोध

ब्रह्मराक्षस—

'याज्ञवल्क्य स्मृति' में ब्रह्मराक्षस' के विषय में कहा गया है—

परस्य योषितं हृत्वा ब्रह्मस्वं अपहृत्य च।
अरण्ये निर्जले देशे भवति ब्रह्मराक्षसः।

जो व्यक्ति दूसरे की पत्नी का हरण करता है या ब्राह्मण का धन

हरता है, वह (मृत्यु के बाद) जंगल के किसी निर्जल प्रदेश में जाकर ब्रह्मराक्षस हो जाता है। किन्तु मुक्तिबोध की परिकल्पना कुछ भिन्न है। उनका ब्रह्मराक्षस एक ऐसे व्यक्ति का प्रतीक है (या व्यक्ति के भीतर की उस चेतना का प्रतीक है) जो जीवन भर कुछ अधिक उत्तम या उत्कृष्ट पाने के लिए संघर्षरत रहते हुए अपने आप में ही निर्वासन भोगता है। वह अपने मन की ही अतल गहराइयों में पड़ा हुआ जीवन के विविध पक्षों में सामंजस्य स्थापित करने के लिए गणित करता रहता है और एक दिन अनचीन्हा ही मर जाता है।

शहर के....परित्यक्त भूरे गोल—मानव मन की अतल निर्जन सूनी गहराइयों की अनुभूति कराने के लिए मुक्तिबोध इसी प्रकार की फ़ैंटेसियाँ लेते हैं।

विगत शत....लगी रहती—मन में सोती हुई अतीत की श्रेष्ठता।

बावड़ी की....ताकता है—सुगंधित भविष्य के स्वप्नों को टगर और कनेर के फूलों द्वारा प्रतीकित किया है।

मन की मलिनता....स्याह—उत्कर्ष और पवित्रता की अभिलाषिणी चेतना की स्वच्छता के लिए बेचैनी। यहाँ वह स्वच्छता का प्रयास शारीरिक स्तर पर करती दिखाई देती है।

और तब दुगने....गहराइयों में शून्य—यहाँ चिन्तन के स्तर पर उत्कर्ष प्राप्त करने की बेचैनी मिलती है।

खूब ऊँचा एक जीना साँवला—अवचेतन या 'इड' अथवा संकुचित 'स्व' से ऊपर उठने के मार्ग का प्रतीक है। किन्तु इस ऊपर उठने के प्रयास में व्यक्ति घायल भी होता है। ययाति या त्रिशंकु की भाँति ऊंचाइयों से बार-बार गिरता भी है।

भाव-तर्क और कार्य का सामंजस्य—'कामायनी' के इच्छा, ज्ञान और क्रिया के सामंजस्य की तरह है; किन्तु दोनों में अंतर यही है कि 'कामायनी' का सामंजस्य हिमालय के उच्च शिखर पर श्रद्धा की एक मुसकान से सपन्न हो जाता है, जब कि मुक्तिबोध का ब्रह्मराक्षस

जीवन भर अँधेरी बावड़ी के अतल जल में अपना समीकरण का गणित करता रह जाता है और मर जाता है।

किन्तु युग बदला—अर्थप्रधान युग ने ब्रह्मराक्षस के उस प्रयास का मूल्यांकन नहीं किया।

मैं ब्रह्मराक्षस का सजल उर शिष्य होना चाहता हूँ—कवि सामंजस्य के समीकरण को, नैतिक मानों के अन्वेषण की, पूर्णता की खोज को आगे बढ़ाना चाहता है।

टगर—(तगर) सुगंधित लकड़ीवाला एक पेड़।

एक अरूप शून्य के प्रति—

प्रस्तुत कविता में जीवन से असंपृक्त ब्रह्म की परिकल्पना की आलोचना करते हुए कवि ने उस अरूप शून्य के स्थान पर जीवन-संघर्षों के बीच से उगे हुए मूल्यों के कमल को प्रतिष्ठित किया है।

नैब्युला (अंग्रेजी)—आँखों के आगे छा जाने वाली धुंध।

कनीनिका—आँख की पुतली।

काल्पनिक योग्य....लटका रखी है—ब्रह्म के कल्पित और आरोपित स्वरूप से सारी दुनिया भयभीत हो रही है।

प्रतिपल तुम्हारा नाम....छेड़ता है—आत्मा ब्रह्मा की प्राप्ति के लिए (अर्थात् आवागमन से मुक्त हो, अखंड आनन्द भोगने के स्वार्थ के लिए) हठयोग जैसी क्लिष्ट साधनाओं की पहाड़ी पर चढ़ती है। सांसारिक आकर्षण उसे छेड़ते हैं (तप-भ्रष्ट करने के लिए कामदेव फूलों का बाण लिए आ जाते हैं)।

मात्र अनस्तित्व....सफर भी खूब है—केवल शून्य या कल्पना को ही इतना बड़ा महत्व दिया कि वह तो सबसे बड़ा सत्य हो गया और यह इतनी बड़ी भरी-पूरी दुनिया सबसे बड़ा असत्य।

महान् विशेषताएँ....सँवार लिया—करुणा, प्रेम, दीनबंधुता आदि जिन गुणों से ब्रह्म को विभूषित किया जाता है मानव के ही हैं।

मंदिर चबूतरे....आवेश—मंदिर में सजे हुए भगवान् में कवि की भक्ति नहीं है, वह तो उन्हें जीवन के बीच अवतरित होते देखना चाहता है। इसलिए उसे अपने आस-पास के लोगों की उदासी, शबरी का निश्छल भोला प्रेम, कुटियों में जलती हुई ढिबरी, प्यारा देश आदि सभी याद आते हैं।

साँवले चेहरे पर....ज्वलंत सरसिज—जीवन के पंक से उत्पन्न आस्थाओं का कमल, जिसमें अव्यावहारिक आदर्श नहीं, यथार्थ आदर्श है, और जीवन को प्रकाशित करने की शक्ति है।

भीतर से भीगा हूँ—भावनाओं से, अनुभूतियों से सिक्त हूँ।

पता नहीं....

जीवन की द्वन्द्वात्मक यात्रा के बीच कभी कोई इस तरह मिल जाता है कि चिलचिलाते फासलों पर बरगद की छाँह फैलने लगती है, मुश्किलें आसान हो जाती हैं, शक्ति का स्फुरण होता है और दीनता तथा दरिद्रता के बीच भी एक सहज प्रसन्नता छाई रहती है।

लाखों आँखों से गहरी अंतःकरण तृषा....किसी के दर्शन से जिस प्यास का—अनिवार खोज की ललक का एहसास होता है; पा लेने की तड़प उत्पन्न होती है, उसी की ओर इंगित होता है।

वह शक्ति पुरुष....जिजीविषा का उत्कृष्ट रूप।

वे आस्थाएँ....अपनी आस्थाओं पर टिके रहने वाले व्यक्ति को बहुधा यातनाएँ झेलनी पड़ती हैं।

विशेष—मुक्तिबोध का काव्य एक असामान्य व्यक्ति की चेतना का काव्य है—ऐसी चेतना का जो वर्तमान से अत्यधिक संत्रस्त और घोर असंतुष्ट है एवं भविष्य में वर्तमान के अधूरेपन को पूरा कर लेने की आशा से पूरी तरह भरी हुई है। वर्तमान और भविष्य की इसी असाधारण विषमता की अनुभूति के कारण द्वन्द्व, संघर्ष और बेचैनी की अभिव्यक्ति भी उसमें असामान्य प्रभाव के साथ उभरी है।

गिरिजाकुमार माथुर

चूड़ी का टुकड़ा—

छोटी-छोटी वैयक्तिक अनुभूतियों के सहारे रति की भाव-भीनी अकुंठ अभिव्यक्ति इस कविता की विशिष्टता है। (विशेष—दे० भूमिका)

कौन थकान हरे जीवन की—

संध्या के संपूर्ण वातावरण को उभारते हुए एकाकीपन के अवसाद का एक भाव-चित्र।

दो चित्र—

पहला चित्र है सलीब पर टँगे ईसा मसीह का और दूसरा है परतंत्रता और शोषण के सलीब पर टँगे भारत का (जिसके मानचित्र और सलीब पर टंगे ईसा के चित्र में रूप-साम्य भी है)। ईसा के चित्र को पृष्ठभूमि में रखकर कवि ने परतन्त्र भारत की करुणा को प्रभावपूर्ण बनाया है।

पूरब की धरती का अन्तिम पच्छिमी छोर—जेरुसलेम, जहाँ ईसा को शूली दी गई थी।

पंद्रह अगस्त—

मैथिलीशरण गुप्त की 'निज विजय पताका फहरे' और पंत जी की 'चिर प्रणम्य यह पुण्य अहन्, जय गाओ सुरगण' कविताओं से प्रस्तुत कविता की तुलना करते हुए डा० नामवर सिंह लिखते हैं—"इन दोनों पद्यों के विपरीत गिरजाकुमार माथुर का गीत जिसकी टेक है—'आज जीत की रात पहरुए, सावधान रहना', सावधानी का यह स्वर अन्त तक कविता में भावोच्छ्वास को नियन्त्रित रखता है और इस प्रकार उस ऐतिहासिक घड़ी में उत्पन्न भाव-बोध को एक नया आयाम देता

है। शत्रु हट गया लेकिन उसकी छायाओं का डर है' हर्ष और भय का यह द्वन्द्व गीत में एक जटिल राग-बोध की सृष्टि कर देता है। फिर भाषा ? एक 'पहरुए' संबोधन से ही स्पष्ट है कि यह भाषा गुप्त जी के 'तुष्टीकरण' और पंत जी के 'पुण्य ग्रहन्' से अधिक जीवन्त है। वे दोनों कवि सम्भवतः 'पहरुए' की जगह 'प्रहरी' लिखना पसन्द करते। निष्कर्ष यह कि ठेठ काव्य अथवा 'रस' के प्रतिमान से ही गिरिजाकुमार माथुर का गीत मैथिलीशरण गुप्त अथवा सुमित्रानंदन पंत के पद्यों से श्रेष्ठ है।"

(कविता के नये प्रतिमान)

प्रौढ़ रोमांस—

प्रेम की वायवी भूमिका से यथार्थ गार्हस्थ्य के कठोर धरातल पर जीवन-रस की खोज प्रस्तुत कविता की विशेषता है।

ढाक वनी—

विंध्य पठार के अशोकनगर स्थित प्रागैतिहासिक ताल का प्रभावचित्र। प्रकृति का अवलंबन रूप से वर्णन।

डाँग—पहाड़ के ऊपर की जमीन, वन।

झाब—दलदल।

कान जैसे पात—हाथी के कान जैसे चौड़े पत्ते।

ढूह—टीला, मिट्टी आदि का ढेर।

तेंदू—एक पेड़, जिसकी पक्की लकड़ी आबनूस कही जाती है।

मचिया—पिढ़िया, बैठने के लिए बान या निवाड़ से बुनी चौकीनुमा पीठिका।

बक्खर—हल की ही तरह का खेती का एक औजार।

औंगन—गाड़ी की धुरी में तेल देने की कुप्पी।

लेज—रस्सी।

चका—पहिया।

धूप का ऊन—

आधुनिक जीवन के परिप्रेक्ष्य में प्रातःकाल का वर्णन।

कविता में जैसे-जैसे धूप उतरती है वैसे ही वैसे कवि के विचार भी एक सीढ़ी से दूसरी सीढ़ी पर संक्रमित होते जाते हैं। चाय की मेज, सुबह का अखबार, अखबार की सुर्खियाँ, सुर्खियों के वक्तव्य, वक्तव्यों का थोथापन और थोथेपन से उत्पन्न विषमता।

सूरज का पहिया—

सूरज जैसे चलता है (वैज्ञानिक दृष्टि से सूरज नहीं चलता, किंतु उसका चलना एक कवि-सत्य है) उसी प्रकार यह जीवन चक्र भी चलता रहे। आस्था और विश्वास प्रेम के बीच से जन्म लेता रहे।

इस कविता में कवि ने शिल्प-संबंधी कुछ नये प्रयोग किए हैं जिनमें 'सूरज की तश्तरी' या 'चंदरिमा की कली' जैसे प्रयोग तो विशेष सफल नहीं हुए हैं, क्योंकि इनसे किसी नवीन सौंदर्य या प्रभाव की सृष्टि होती नहीं दीखती, किंतु 'बरौनियों की छाँह' में चाँद की यात्रा, 'संदली भविष्य', 'पियरी केसर' जैसे प्रयोग चमत्कार होने से सफल हैं।

आरई नजरें—तीखी या तेज—(उर्दू में 'तेग़ नजर' जिस अर्थ में प्रयुक्त होता है)।

लक्ष्मीकान्त वर्मा

क्यूरियो मार्ट में अर्जुन की तलाश करते श्रीकृष्ण—

हम प्राचीन उच्चादर्शों के प्रतीक महापुरुषों को और उनके संदेश को मात्र सजावट की वस्तु बनाकर रखे हुए हैं और उनके आदर्शों तथा

मूल्यों से रहित आज का जीवन विघटन और संत्रास से युक्त हो गया है, इस बात को कवि ने क्यूरियो मार्ट, अर्जुन और कृष्ण के प्रतीकों के सहारे बड़े आकर्षक रूप में उभारा है।

क्यूरियो मार्ट—(अंग्रेजी) विलक्षण कला-कृतियों की दूकान।

मूर्तिवत्....धुँधली सी काया—कृष्ण के जीवंत चरित्र को मूर्तिपूजा तक सीमित कर दिया गया और उनके बहुमुखी व्यक्तित्व को केवल रसोद्रिक्त—रासलीला वाले रूप में बाँध दिया गया।

जर्जरित....राधा का रूप—टूटे हुए भाव-बोध की ध्वनि है।

प्रत्यंचा की डोर....किसका है—आधुनिक व्यक्ति की तमाम शक्ति अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए 'राशन की दूकान' पर ही खड़े-खड़े चुक जाती है।

मेरे विराटत्व....इस्पात को झुकाता है—आधुनिक व्यक्ति अपनी निरीहता दुर्बलता और बेबसी में युग को बदल देने वाली क्रान्तिज्वाला छिपाए है।

गांडीव....बिके हुए—आज का मानव अपनी शक्ति, सामर्थ्य, आस्था सब कुछ आवश्यकता-पूर्ति के लिए थोड़े से धन के बदले गिरवी रखे है।

विशेष—कुछ प्रयोग अस्पष्ट हैं, जैसे—कुंती का अनस्तित्व', 'आत्मा की अस्थि', 'अस्थि की आत्मा'।

मेरा अपराध

अनास्थाओं से घिरकर भी आस्था बनाए रखना जैसे एक अपराध है।

कारनिस से....रख दिया है—दया और करुणा के प्रति आस्था बनाए रखी है।

बेतहाशा....ठहरा दिया है—हानिकारक तत्त्वों से सुरक्षा कर ली है।

उन लैम्प पोस्टों....कद पर हैं—'लैम्प पोस्ट' प्रचारक वृत्ति वाले ऊपर

से चमकदार, किन्तु भीतर से खोखले व्यक्तियों का प्रतीक है, जिनके आस-पास साधारण बुद्धि लब्धिवाले लोग चक्कर काटते हुए अपने जीवन की बाजी लगा देते हैं।

उन चौराहों....बात करते हैं—सस्ते चिंतन से पटरी न बैठ सकी।

उन उँगलियों....बुझ जाती हैं—आस्था को बुझा देने वाली बाधाओं की परवाह नहीं की।

मैंने बिना....काम आये—व्यर्थ के संघर्ष और झंझट मोल लेकर अपने अस्तित्व को खतरे में नहीं डाला।

इतिहास सेतु—

इतिहास को पूजने की वृत्ति पर कटाक्ष है। इतिहास एक सेतु है माध्यम मात्र, उसके भीतर रहकर जिया नहीं जा सकता। जो इतिहास बीत गया है, उसका अब अस्तित्व भी शेष नहीं है।

इसे चलाकर....नहीं जानता—इतिहास में उन व्यक्तियों का नाम नहीं आता, जो उसे रक्त से सींचकर पोषित करते हैं।

कुछ गलत यादों के सहारे सार्थक वेदनाएँ—

कभी आत्म-रति व्यक्ति को अकारण-अजाने उदास बना देती है, किन्तु अपने आस-पास के परिवेश में जब वह रुचि लेने लगता है तो बोझ कुछ कम हुआ-सा लगता है।

आँगन—

स्मृति का एक भावपूर्ण, किन्तु संयमित चित्र बड़ी सफलता से प्रस्तुत किया गया है।

अनाम की मृत्यु—

कवि अपनी सहज सहानुभूति के कारण दूसरों के दुख-दर्दों का

अनुभव बड़ी तीव्रता से करता है। कबीर की इन पंक्तियों में यही दर्द उभरा है।

(१) चलती चाकी देखि कै दिया कबीरा रोइ।

(२) सुखिया सब संसार है, खावै और सोवै।
दुखिया दास कबीर है, जागे और रोवै॥

इसी दर्द की अभिव्यक्ति प्रस्तुत कविता में एक तीखी व्यंग्यात्मकता के साथ हुई है।

एक सही वर्षगांठ मनाने के गलत तरीके—

प्रस्तुत कविता की रचना करते हुए कवि की कलम में जैसे कहानीकार की आत्मा प्रविष्ट हो गई हो। इस कविता को पढ़कर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि गद्यात्मकता और कथात्मकता होने पर भी कोई रचना 'कविता' ही बनी रह सकती है। यही 'प्लाट' लेकर यदि कहानी लिखी जाती तो उसमें स्थितियों और घटनाओं को एक दूसरे के बाद इतनी तेजी से नहीं लाया जा सकता था—उसमें एक जटिलता की सृष्टि करते हुए उन्हें धीरे-धीरे उतारना पड़ता।

वैवाहिक जीवन की रोमांटिक अनुभूतियाँ तो अभी तक कविता का विषय बनती रही है, किन्तु इस प्रकार की कटुता को भी काव्यात्मक रमणीयता प्रदान कर देने की क्षमता नये कवि में पहली बार दिखाई देती है।

कविता की अंतिम पंक्तियाँ उसके संप्रेष्य विचार की ओर इंगित करती है—मि० और मिसेज भान आज के विघटित जीवन से उत्पन्न भावनात्मक कटुता के प्रतीक हैं।

मैं आत्मलीन हूँ—

आत्मलीनता का अर्थ जहाँ 'आत्म-रति' हो जाता है, वहाँ वह अस्वास्थ्यकर हो जाती है, किन्तु जहाँ उससे चिंतन की गहराइयों में

प्रवेश किया जाता है, और मूल्यों के मोती निकाले जाते हैं, वहाँ वह 'विश्वात्मलीनता' का पर्याय बन जाती है। ऐसा व्यक्ति अपनी आत्मा की सच्ची पुकार सुनता है, और निर्भय, निर्लोभ होकर उस पर आचरण करता है, फिर उसे उस आवाज की कीमत पर कोई खरीद नहीं सकता। ईसा और मुहम्मद का इलहाम, गाँधी के आकस्मिक निर्णय इसी अंतरात्मा की आवाज थे। इसी प्रकार के आत्मलीन व्यक्ति का वक्तव्य प्रस्तुत कविता में देखने को मिलेगा।

मणिधर विषदंश-हीन—

इस कविता में विषदंश-हीन सर्प उस व्यक्ति का प्रतीक है, जिसकी रक्षात्मक आक्रमण शक्ति को विषम परिस्थितियों ने तोड़ दिया है। किन्तु फिर भी उसकी मुक्ति नहीं है। अब भी विषमताएँ हाथ में पत्थर लिए उसका निरीह जीवन समाप्त कर देने पर तुली हुई है। घिरा हुआ वह विषदंश-हीन मणिधर (फणिधर नहीं!) फिर भी अपना मनोबल और साहस बनाये हुए आक्रामकों को ललकारता है।

लेकिन ओ....विषवमन करेगा

'जन समूह के नायक' यह संबोधन यहाँ ऐसे लोगों के लिए हैं, जिन्होंने सुकरात, ईसा और मुहम्मद जैसों का विरोध किया था। ऐसे लोग विरोध करते हुए यह भूल जाते हैं कि उनके भीतर भरा हुआ अविवेक, कुत्सा और घृणा का विष एक दिन फूटेगा और स्वयं उन्हें ही नष्ट कर देगा।

ओ जनमेजय....जीवित रहूँगा—मृत्यु के बाद भी वे महान् आत्माएँ अपने में प्रभाव और स्थापित किए गए मूल्यों में जीवित रहती हैं और वह समाज जो उनका विरोधी था, उसके अस्तित्व का अनुभव करता है।

जनमेजय ने नागयज्ञ में सर्पों की आहुति दी थी, इसलिए सर्प विरोधियों के लिए 'जनमेजय' संबोधन का प्रयोग किया है।

शीशे का पारा घुल जाता है—

'शीशे' जीवन मूल्यों या आदर्शों का प्रतीक है, पारा युगीन संदर्भों का, उन आदर्शों को रूपायित करने वाले व्यक्तियों की ओर 'आकृति' के प्रतीक द्वारा इंगित है।

पृष्ठभूमि....भयानक लगती है—गलत या टूटे हुए संदर्भों में प्रयुक्त जीवनादर्श विकृत हो जाते हैं।

कुछ शीशे....मुश्किल होता है—कुछ जीवनादर्श युगीन संदर्भों में टिकते ही नहीं, अव्यावहारिक होते हैं।

कुछ शकलें...भयानक होता है—कुछ व्यक्ति युग और आदर्श की मर्यादा न मानकर स्वेच्छाचारी बन जाते हैं और समाज के लिए भयानक सिद्ध होते हैं।

किन्तु एक स्थिति....बढ़ जायेगी—तुच्छ व्यक्ति अपने को अति-मूल्यांकित करने लगता है।

धर्मवीर भारती

मुक्तक—

(१) प्रातः पवन का विरहोद्दीपक रूप एक नयी भंगिमा के साथ प्रस्तुत किया गया है।

(२) विरह की पीड़ा।

(३) प्रथम दो पंक्तियों में सजल प्यार की जो सहज अभिव्यक्ति हो गई है, वह बाद वाली दो पंक्तियों की भारी उपमा से बोझिल हो गई है।

(४) विरह की दुःखद छाया की गहन अनुभूति : एक प्रभाव चित्र।

फूल, मोमबत्तियां और सपने—

समस्त विरोधी तत्त्वों के साथ जीवन की समग्रता की स्वीकृति

और पीड़ा का प्रेरक रूप से ये दो बातें इस कविता में बड़े प्रभावी ढंग से व्यंजित हुई हैं।

कविता की मौत—

एक जमाना था जब कविता की मौत का अहसास बहुत से सहृदयों को हुआ था, ऐसे लोगों के लिए कविता केवल कोमल सपनों और फूलों की दुनिया तक ही सीमित थी और जब उन्होंने जीवन के संघर्षों मे उन सपनों और फूलों को टूटते और कुचले जाते देखा, तो कहने लगे कि कविता मर गई। किन्तु कविता जीवन की समग्रता में जन्म लेती है, कठोर धरती की छाती फोड़कर अपने लिए रस खीचती है, मानव को अक्षय जिजीविषा में से फूटती है—वह कभी मरती नहीं—बदलती हुई संवेदन के अनुकूल अपने को ढालती चलती है। यही भाव प्रस्तुत कविता में व्यंजित हुआ है।

....विष्णु पद से....धारा बन बही—कविता को गंगा का रूपक दिया है। विष्णु-पद तथा ब्रह्मा के कमंडल से कविता का वह आरंभिक रूप ध्वनित है, जो देवताओं की स्तुति रूप में वेदादि में मिलता है। बादलों की तहें आदि कालिदास आदि के काव्य में मिलने वाले प्रचुर प्राकृतिक वैभव के प्रतीक हैं। आदमी की जमीन पर कविता के उतरने से उस कविता की ओर इंगित है, जिसमें मानव जीवन को यथार्थ के धरातल पर देखने का प्रयास मिलता है। (तुलसी की 'किरति भनिति भूति भलि सोइ, सुरसरि सम सब कहँ हित होई।' —अर्धाली से भी तुलनीय।

....एक तुलसी-पत्र, दो बूंद गंगाजल—प्राचीन आस्थाओं के प्रतीक हैं।

....भूख ने....गरीबिन मर गई—कुरूप और रूखे जीवन-संघर्षों में पिस कर कविता की मृत्यु व्यंजित है। शेष कविता में मानवता के प्रति आस्था और कविता के भविष्य के प्रति विश्वास ध्वनित है।

नया रस—

मानव-चेतना की जटिलता के साथ-साथ हमारे रसात्मक बोध में भी परिवर्तन हुआ है। रस सम्बंधी बंधे हुए फार्मूले आज काम नहीं देते। शृंगार रस को ही ले लीजिए, पुराने शृंगारी की तरह आज व्यक्ति परिरंभण की तन्मयता में भी अपना आपा नहीं भूल पाता, उस समय भी कुछ प्रश्न कुछ समस्या उसका ध्यान खींच लेते हैं। तात्पर्य यह कि रस-परिकल्पना में 'संविद्-विश्रान्ति' के स्थान पर आज द्वन्द्वात्मक जटिलता को स्थान मिलना चाहिए—ऐसा कवि का अभिप्रेत प्रतीत होता है।

केवल तन का रिश्ता—

भावुकतापूर्ण उच्छल कैशोर रोमांस का, रूपाकर्पण के उन्माद का वर्षा जल जब थिरा जाता है, तब शरद की मोहकता और निर्मलता जन्म लेती है जो रूपाकर्षण समाप्त हो जाने के बाद भी मानसिक प्रेम को और अधिक समृद्ध बनाती है।

निर्माण योजना—

देश की विकास-योजनाओं को प्रतीक-रूप में लेते हुए कवि ने कई विचारों की अनुभूति के स्तर पर रसमयी सृष्टि की है।

बाँध—बाढ़ में उमड़ती नदियों का जल फसलों को, बस्तियों को बरबाद कर सकता है, किन्तु बाँध में अनुशासित होकर वही अनेक रचनात्मक-कार्यों में लग सकता है। इसी प्रकार घृणा की बात है, घृणा करनी चाहिए, किन्तु संकुचित 'स्व' से नहीं, लोक-मंगल की भावना से प्रेरित होकर। आचार्य शुक्ल ने इसी को रागों का परिष्कार कहा है।

यातायात—सबको जीवन-यापन के किए आवश्यक सुविधाएँ मिलें।

कृषि—विषमता की फसल काटकर भ्रातृ-भाव और एकता के नये बीज बोने का संकेत ।

स्वास्थ्य—'अहं' से तात्पर्य संकुचित 'स्व' तथा मिथ्या अहंकार से है । कोरे वक्ताओं को रचनात्मक कार्यों में लगाना ही अहं के अस्पताल खुलवाना है ।

टूटा पहिया—

टूटा पहिया लघु और अपेक्षित मानव का प्रतीक है, जिसे बेकार समझकर फेंक दिया गया है । नया कवि उसकी संभावनाओं को पहचानता है और उसकी क्षमताओं का मूल्यांकन करता है । (तुलनीय अज्ञेय की 'यह दीप अकेला' कविता से और उसकी टिप्पणी में उद्धृत मुक्तिबोध की पंक्तियों से ।)

चैत का एक दिन—

प्रिय के संयोग-संपर्क के क्षणों की गहरी अनुभूति की संयमित अभिव्यक्ति । (**विशेष**—देखिए पंक्तियाँ—शाम हुई....सँवार दिया ।)

शाम : एक थकी लड़की—

(निराला की 'संध्या सुंदरी, कविता से तुलना करने पर छायावादी भाव धारा से नयी कविता का वैशिष्ट्य स्पष्ट होगा ।)

गुनगुनी धूप की नदी में उतर जाने से संभोग का समर्पण ध्वनित है । 'ओ जल-निमग्ना !', 'मैं हूँ नदी-तल की रेत' आदि कहकर कवि अपने मिलन-काल की क्षणिकता व्यंजित करता है और गुनगुनी नदी में अपने को घुला देने वाली शाम को आगाह करता है कि किसी भी समय मैं रेत की तरह तुम्हारे पैरों के नीचे से बह सकता हूँ ।

मनोविश्लेषण की दृष्टि से देखा जाय तो इस कविता में बिना किसी प्रकार का उत्तरदायित्व स्वीकार किए भोग लेने की इच्छा ध्वनित होती है, जिसे उचित नहीं कहा जा सकता ।

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना

मैंने कब कहा—

प्रस्तुत कविता नये कवि का घोषणा-पत्र है, भावुकता से विवेक को आच्छादित करके वह यथार्थ को ढकता नहीं और न कविता को आनन्द या मनोरंजन के लिए मानता है, वह तो जीवन की वास्तविकता को अपनी कविता के माध्यम में संप्रेषित करना चाहता है, झकझोरना चाहता है, मर्म कुरेदना चाहता है, टीस उत्पन्न करना चाहता है और यह इसलिए कि उद्‌बोधन मिले, संकल्प शक्ति उत्पन्न हो और हम आगे बढ़ सकें।

....पिचके गुब्बारों—अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा द्वारा असमर्थों और अयोग्यों को आसमान पर चढ़ा देना।

....असत्य के चश्मे....लेखते हैं—जो यथार्थ का दर्शन नहीं कर पाते, स्वप्नों के संसार में खोए रहते हैं।

....सच्ची चोट, झूठी मुस्कानें—क्रमशः यथार्थ और हवाई आदर्श के प्रतीक हैं।

....खंडित आत्माएँ....समिधाएं—देखिए टिप्पणी 'अज्ञेय'।

कैसी विचित्र है जिंदगी —

विघटित और टूटे हुए मूल्यों से उत्पन्न विकृति और विवशता का चित्र प्रस्तुत कविता में मिलता है। यह संवेदना पश्चिम के अस्तित्ववादी दर्शन (एग्जिस्टेंशियलिज्म) के निकट है, जिसके अनुसार व्यक्ति अपने आपको परिस्थितियों से इस प्रकार बाध्य पाता है कि चाहते हुए भी वह कुछ नहीं कर पाता और परिणामतः एक संत्रास और विघटन का बड़ी गहराई से अनुभव करता है।

सड़ा कपड़ा जीवनादर्शों का, फूल नये जीवन की परिकल्पनाओं का, पैबंद और लबादा विकृत एवं बनावटी जीवन का प्रतीक हैं।

तनी हुई....रह जाता हूँ—विवशता की व्यंजना है।

अक्सर सोचता हूँ....गिरा दिया जाता हूँ....कुछ अस्तित्ववादियों के अनुसार घर-गृहस्थी भी हमारे अस्तित्व के लिए घातक है, वह हमें संघर्षों में पीसकर रख देती है। प्रस्तुत कविता में 'घर के आँगन का कुआँ' इसी बात को व्यंजित करता है। नाखूनों से आदमियों की जानवरनुमा शक्लें बनाने से कवि का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि व्यक्ति जब गृहस्थी के कुएँ में फँस जाता है, तो अपने बाल-बच्चों के लिए (या उनके नाम पर) पाशविक स्तर पर उतरकर अनेक अमानवीय कृत्य करने लगता है।

अक्सर सोचता हूँ....बाहर निकलता हूँ अस्तित्ववादी के मत से घर की तरह समाज भी व्यक्ति का शत्रु है।

अक्सर घबड़ाकर....चुराता हुआ—घर और बाहर सभी जगह से संत्रस्त अस्तित्ववादी संन्यस्त होकर निकल भागना चाहता है, लेकिन बस्ती (टूटी हुई जिंदगीवाली बस्ती) का आकर्षण उसे फिर लौट आने को विवश करता है। वह फिर लौटता है। किन्तु फिर भी उसमें इतना साहस नहीं होता कि आश्रयहीन, किन्तु साहस लोगों से आँखें मिला सके और उनके आँसू पोंछने के लिए आगे बढ़ सके। (बेपनाह साहसी धुएँ से आँखें चुराने की बात अधिक स्पष्ट नहीं है, फिर भी उसमें से उपर्युक्त ध्वनि ली जा सकती है।)

'सुनो'....बन्द कर लेता हूँ—संत्रास-बोध की असामान्य स्थिति।

खंडित मूर्तियाँ खंडित जीवन का प्रतीक हैं।

वह मूर्ति शक्ति की—मानव ने ईश्वर पर आवश्यकता से अधिक विश्वास करके अपनी शक्ति को कुंठित बना लिया है।

यह मूर्ति प्यार की—अर्थ-लिप्सा ने प्यार की आस्था तोड़ दी है।

यह करुणा की—हम अपने स्वार्थों में इतने फँस गए हैं कि दूसरे के दुःख मे दुःखी तक नहीं होते।

यह मूर्ति ईश्वर के—ईश्वर का विराट् रूप जीवन की विविधता का

प्रतीक है। आज वह विविधता समाप्त है, केवल स्वार्थ का पेट भरने तक हमारी सारी क्रियाएँ सीमित रह गई हैं।

(१) मातु पिता बालकन्ह बुलावहिं।
उदर भरइ सोइ धरम सिखावहिं॥ —तुलसी।

(२) मो सम कौन कुटिल खल कामी। × **भरि भरि उदर विषय को** धावत ऐसो नमकहरामी—सूर।

(३) अब तक क्या किया
जीवन क्या है
उदरंभरि बन अनात्म बन गए। —मुक्तिबोध।

(उपर्युक्त तीनों उद्धरणों से तुलनीय।)

गहन व्यथा के....निश्चेष्ट बैठ जाता हूँ—गहरी विवशता ध्वनित है।

फिर भी मैं—

पिछली कविता में विघटन के बीच एक गहरा अवसाद और चरम बेबसी की व्यंजना थी, किन्तु इसमें विघटन और टूटन से उत्पन्न उत्साह व्यंजित है।

यद्यपि मेरे लिए....नहीं हिलती—प्रकृति आज सुन्दर नहीं लगती न, कोई प्रेरणा और संदेश देती है।

यद्यपि मैं....डूबी हुई हैं—अपनी और परिस्थिति-परिवेश की टूटन और असमर्थता ध्वनित होती है।

घुनी लकड़ियों के धनुष—अशक्ति या जर्जर आस्थाओं के द्योतक हैं। हम विवेक के नाम पर उन अशक्त-जर्जर धनुषों की प्रत्यंचा भी चढ़ाने से इनकार कर देते हैं। 'विवेक' यहाँ शान्ति और अहिंसा के तथाकथित उच्च आदर्शों को व्यंजित करता है।

बौनों के....शिक्षा देते हैं—अपनी शक्ति-सामर्थ्य के अनुसार विकास न करके आस-पास बसे सामर्थ्यहीन लोगों की नकल करने लगते हैं।

छोटी....आराम दे रहे हैं—आवश्यकताओं के अनुकूल सामग्री न जुटाकर

आवश्यकताएँ ही कम कर देने में सुख समझते हैं । (बुद्ध और गांधी के दर्शन की ओर इंगित) ।

लेकिन एक भी....टूटता है—चुपचाप सह लेने की भारतीय प्रवृत्ति पर व्यंग्य है । सूखी लकड़ी टूटते समय हरी (सरस) लकड़ी की अपेक्षा अधिक शब्द करती है । इसी प्रकार रसमय—राग-रंग भरा जीवन चुपचाप टूट जाता है, क्रांति नहीं करता । सूखे जीवन में ही क्रान्ति जन्म लेती है ।

यहीं कहीं एक कच्ची सड़क थी—

कहते हैं, औद्योगिक सभ्यता की स्वीकृति आधुनिकता-बोध की एक बड़ी निशानी है और आधुनिकता बोध नयी कविता की अनिवार्यता है, किन्तु कवि इस प्रकार की अनिवार्यताओं से नहीं बँधा होता, वह तो अपनी अनुभूति से विवश होता है । प्रस्तुत कविता में कवि ने औद्योगिक विकास से उत्पन्न बुराइयों को 'पक्की सड़क' और कृषि-सभ्यता के सरल ऋजु जीवन को 'कच्ची सड़क' का रूपक देकर उभारा है ।

हवेल—गले में पहना जानेवाला एक ग्रामीण आभूषण ।
मेदुर—स्निग्ध, मृदु, सघन ।
रवाब—(अरबी) सारंगी जैसा एक बाजा ।
फाँड़—फेंटा ।
पुरवे—छोटे ।

तुम—

प्रेयसी में आस्था और प्रेरणा की अनुभूति ।

....एक भ्रम—तुलनीय—(१) छलना थी फिर भी उसमें मेरा विश्वास घना था । —प्रसाद

(२) किसी प्यासे से जल का भास मरु में इस तरह बोला
मैं धोखा हूँ, तुम्हारे यत्न को बेकार करता हूँ

तो प्यासे ने कहा हँसकर, ओ मेरे खोज के साथी !
तू मेरी प्यास का दर्पण मैं तुझसे प्यार करता हूँ ।

—ईश्वरशरण सिंहल

सूर्योदय—

सूर्योदय नवजीवन के उदय का प्रतीक है, जिसमें डूबकर हम फिर तरोताजा होते हैं और नयी शक्ति पाते हैं ।

साँझ—एक चित्र—

गाँव के सीमांत पर संध्या का एक संक्षिप्त सशक्त प्रभाव-चित्र ।
....प्रश्न-चिह्न—गाँवों की समस्याओं की ओर इंगित है ।
....आकाश साफ से—भविष्य की आशा व्यंजित है ।

रात भर—

नये प्रयोगों द्वारा विरहानुभूति की व्यंजना ।
सेज पर....सोता रहा—भाव स्पष्ट नहीं है । दो अर्थ संभावित हो सकते हैं—(१) 'यहाँ' तो खिड़की के पल्ले-सा बेचैन मन रात भर तड़पता रहा और 'वहाँ' कोई निश्चितता से सोता रहा । ('अवकाश कहाँ कब उनको सुनने को करुण कथाएँ —प्रसाद) ।
(२) आस-पास की दुनिया हमारी पीड़ा से बेखबर सोती रहती ।

कीर्ति चौधरी

बरसते हैं मेघ झर-झर—

बादलों का उद्दीपक रूप एक नूतनता के साथ अभिव्यक्त हुआ है ।

वर्षा की शीतल स्निग्ध रसमयी पृष्ठभूमि में मन का ताप उत्ताप और पीड़ा दुगुनी होकर आई है।

निस्तब्ध आधी रात—

सुनसान आधी रात के फलक पर डोलते अनेक भाव-चित्र।

दूसरे की रोशनी....मेरा घर प्रकाशित—इस कल्पना द्वारा प्रियतम के स्मृति रूपी आलोक से अपने हृदय के प्रकाशित होने का भाव बिम्बित किया है।

डोलते....किसके हैं—प्रिय की स्मृति के चित्र बिम्बित हैं।

सौ बार मैं....अर्पित हूँ—प्रियतम के सुख के लिए अपना समर्पण।

(तुलनीय—भूमिका में कु० राधा की कविता—अभी फुहियाँ पड़ रही हैं....)।

सुधि के क्षण—

गहन भावात्मक अनुभूति की संयमित अभिव्यक्ति द्रष्टव्य है।

केवल एक रात थी—

बात कोई होती तो एक ही है, किन्तु उसे अनेक प्रकार से कहकर भी जैसे कुछ कहना शेष रह जाता है।

....सागर मेरे!—भावों की उमड़ती सरिता का वेग आलिंगनपाश में उसी तरह समा गया, जैसे सागर में सरिता।

सुख—

किसी मनःस्थिति विशेष में या 'किसी' की उपस्थिति से सारा परिवेश एक अद्भुत अपूर्वता से भर उठता है।

यथास्थान—

मन में व्यथा समेटकर भी ऊपर से व्यवस्थित और शांत बने रहने का स्पृहणीय संयम प्रस्तुत कविता की भाव-संपदा है।

एकांत—

किसी के प्रति समर्पण की कामना मनोवैज्ञानिक है, उसी की भाव भरी अभिव्यक्ति प्रस्तुत कविता में हुई।

यक्त—

आज लोगों की स्वाभाविक भावनाएँ नष्ट हो गई हैं। सभ्यता ने हमारे चेहरों पर कुछ ऐसे मुखौटे चढ़ा दिये हैं कि हमारा प्रकृति स्वरूप दब गया है, हमें न गलत बात पर क्रोध आता है, न सौन्दर्य देखकर प्रसन्नता होती है।

देवता का प्राप्य—

रूढ़िगत मान्यताओं पर एक प्रश्न-चिह्न है। बस, हम प्रथा, नियम या रूढ़ि के आवरण में छिपा विधि-निषेध जानते हैं, उसकी तह में जाने का प्रयास नहीं करते।

निर्माल्य—देवता को अर्पित सामग्री।

कर्दम—कीचड़

आगत का स्वागत—

किसी आगत की प्रतीक्षा में बैठना मुंह ढांककर सोने से बहुत बेहतर है—आशा और उल्लास का यह गीत अपनी प्रभावमयी सपाटबयानी में अद्वितीय है।

संकल्प—

पूर्णिमा के विहान में पढ़ा हुआ कर्मठ-जीवन का यह संकल्प जीवन के प्रति अत्यन्त स्वच्छ, स्वस्थ एवं भावनापूर्ण दृष्टिकोण का परिचायक है।